साहस के साथी

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के आरंभिक दौर में भाग लेने वाले कुछ साहसी व्यक्तियों के जीवन की घटनाएँ

लेखक

मनोज दास

अनुवाद

मंजुल अवस्थी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

नई 1988
वैशाख 1910

P.D. 5T—NSY

प्रकाशन सहयोग

सी०एन०राव, अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग

प्रभाकर द्विवेदी मुख्य सम्पादक
दिनेश सक्सेना सम्पादक
नरेश यादव सम्पादन सहायक

यू० प्रभाकर राव मुख्य उत्पादन अधिकारी
डी० साईं प्रसाद उत्पादन अधिकारी
चंद्रप्रकाश टंडन कला अधिकारी
रतीराम उत्पादन सहायक

चित्र तथा आवरण : मृणाल मित्र

मूल्य : रु० 10.00

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा एन.के. एन्टरप्राइजेज़ 4782/2-23 दरियागंज, नई दिल्ली 110002 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

विद्यालयी-शिक्षा में सर्वतोन्मुखी गुणात्मक सुधार लाने के अपने प्रयासों में एक ओर तो परिषद् बालकों की शैक्षिक क्षमताओं को विकसित करने के उपाय कर रही है तथा दूसरी ओर उनमें सामाजिकता और नैतिकता की भावनाओं का विकास करने में भी अपना योगदान दे रही है। बाल्यावस्था में विद्यार्थियों का मन बहुत ग्रहणशील होता है। यदि इस अवस्था में उनमें सम्यक् अभिवृत्तियाँ विकसित नहीं की जातीं तो बाद की अवस्था में उनके मन को स्वस्थ दिशाओं में विकसित करने में सहायता दे पाना बहुत कठिन हो जाता है। यही कारण है कि सभी शिक्षा-समितियाँ और आयोग स्कूल स्तर पर बच्चों को नैतिक शिक्षा अथवा सम्यक् जीवन-मूल्यों की शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता पर बल देते रहे हैं। नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में इस तथ्य पर बल देते हुए कहा गया है–

''समाज में अनिवार्य जीवन-मूल्यों के स्खलन और बढ़ती हुई कटुताओं के कारण पाठ्यक्रम को पुनः संयोजित करने की आवश्यकता पर पहले से अधिक ध्यान देने की जरूरत है ताकि शिक्षा को सामाजिक, नैतिक और आदर्श जीवन-मूल्यों को प्रजनित करने का एक शक्तिशाली माध्यम बनाया जा सके।''

आज पूरे विश्व में जीवन-मूल्यों की शिक्षा प्रदान करने की जरूरत को स्वीकार किया जा रहा है। संसार के कई देशों में इस मुद्दे पर चर्चाएँ चल रही हैं कि बच्चों में सही जीवन-मूल्यों को अंकुरित करने का सबसे अच्छा तरीका क्या होना चाहिए। ज्ञान के इस नए क्षेत्र में अभी और भी खोजें की जानी हैं। आरंभ में हमारे जो भी प्रयास होंगे वे स्वभावतया कामचलाऊ ही होंगे। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए परिषद् ने ''जीवन-मूल्यों की शिक्षा'' शीर्षक प्रोजेक्ट पर कार्य करने का निर्णय किया है। अपने पहले प्रयास के रूप में हमारा प्रयत्न है कि अध्यापकों और विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए कुछ ऐसी पठन-सामग्री विकसित की जाए जिसकी सहायता से जीवन-मूल्यों के अंकुरण, संप्रत्ययन और इससे संबंधित धारणाओं के प्रति जन-जागृति पैदा की जा सके।

''साहस के धनी'' पुस्तक सुविख्यात लेखक श्री मनोज दास की अंग्रेजी में लिखी पुस्तक ''कंटूर्स ऑफ करेज'' का हिंदी अनुवाद है। इस पुस्तक में लेखक ने छोटे बच्चों के लिए ऐसे लोगों के जीवन की असली

कहानियाँ प्रस्तुत की हैं कि जिनके मन-मस्तिष्क असाधारण साहस और संकल्प से पूरित रहे हैं। इन कहानियों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष में अजेय इच्छा शक्ति और संकल्प-शक्ति विद्यमान है। इसी इच्छा शक्ति के सहारे वे अपने जीवन की विषमतम परिस्थितियों का सामना करते हैं और विपरीत घटनाक्रमों मे भी अपने देश की सुरक्षा, स्वतंत्रता और कल्याण के लिए काम करने की शक्ति जुटा पाते हैं। इन कहानियो में देश-भक्ति, धर्म-निरपेक्षता, निष्ठा और अभय की भावनाओं की अद्भुत और बहुविध अभिव्यक्ति हुई है जिनका पाठक के मन पर अमिट प्रभाव पड़ता है।

श्री मनोज दास में कहानी कहने की कला अद्वितीय रूप से विद्यमान है। हमें पूरा विश्वास है कि ये कहानियाँ हमारे देश के अधिसंख्य बच्चों में प्रेरणा फूँक सकेंगी। मैं श्री मनोज दास के प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद अभिव्यक्त करता हूँ कि उन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकार करके भारत के बच्चों के लिए यह सुंदर पुस्तक लिखी।

''जीवन-मूल्यों की शिक्षा'' प्रोजेक्ट का काम परिषद् के प्रो० अनिल विद्यालंकार, विभागाध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के निर्देशन में चल रहा है। यह पुस्तक इसी कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसी विभाग की प्रो० (कु०) एस०के० राम ने इन कहानियों का अंतिम रूप से चयन और संपादन किया है। इस महत्वपूर्ण कार्य को करने के लिए मैं अपने इन दोनों सहयोगियों को धन्यवाद देता हूँ। इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद श्री मंजुल अवस्थी ने किया है, मैं उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

जो अध्यापक, विद्यार्थी और अभिभावक इसे पढ़ें, उनसे अनुरोध है कि वे अपनी सम्मतियाँ और सुझाव भेजकर हमें अनुगृहीत करें।

पी०एल० मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

लेखकीय

इस पुस्तक में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की सिलसिलेवार तस्वीर प्रस्तुत करना हमारा उद्‌देश्य कदापि नहीं है, बल्कि इस संग्रह में स्वतंत्रता-संग्राम से जुड़े कुछ ऐसे व्यक्तियों के लुभावने चरित्र प्रस्तुत किए गए हैं जिन्होंने इस संग्राम में भाग लेकर अपने उल्लेखनीय साहस का परिचय दिया। हमने इन व्यक्तियों की जीवन-गाथाएँ इतिहास से ली हैं, खासतौर से उन वृत्तांतों से, जिन्हें अंग्रेजों ने स्वयं ही लिखा था।

ये जीवन-वृत्तांत ब्रिटिश-शासन के आरंभिक दौर में उनके विरुद्ध भड़क उठे आक्रोश के तीन पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। पहले तीन अध्यायों में स्वतंत्रता के लिए लड़े गए प्रथम युद्ध से पहले की घटनाओं का वर्णन है, इनके बाद के छह अध्यायों में ऐसे वीरों के साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन है जिन्होंने युद्ध के समय अद्‌भुत शूरवीरता का प्रदर्शन किया। अंतिम अध्याय में उन्नीसवीं सदी के पहले और दूसरे दशकों में उमड़ रही क्रांतिकारी भावनाओं पर प्रकाश डाला गया है।

श्री अरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र
पांडिचेरी

मनोज दास

विषय सूची

1

वह आदमी जिसने आखिरी तीर चलाया

सन् 1857 ई० से दो साल पहले की बात है। उन दिनों हमारे देश में अंग्रेजों की हकूमत थी। अचानक ऐसा हुआ कि हमारे कुछ देशवासी अंग्रेजों की हकूमत के खिलाफ़ इतने भयंकर रूप में भड़क उठे जिसकी अंग्रेजों को कतई उम्मीद नहीं थी। हमारे ये देशवासी एक बड़े भू-भाग में रहा करते थे। इन लोगों ने छाती ठोककर कह दिया कि अब उन्हें अंग्रेजों की और अधिक हकूमत बर्दाश्त नहीं होगी, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए। इन लोगों को अंग्रेजों की गुलामी इतनी अखरने लगी थी कि लोग अब हर हालत में इस दासता से स्वतंत्र होने की कामना करने लगे थे। इन लोगों को विश्वास हो गया था कि यदि संसार में इनका कोई सच्चा मालिक हो सकता है तो वह ईश्वर ही हो सकता है, अंग्रेज लोग या ईस्ट इंडिया कंपनी तो कभी भी इनके स्वामी नहीं हो सकते।

लेकिन हर आज़ादी की एक कीमत चुकानी होती है। क्या आप सोच सकते हैं कि इन लोगों ने आज़ादी प्राप्त करने के लिए क्या-क्या उपाय सोचे होंगे? ये लोग तीरंदाज लोग थे। अगर ये लोग चाहते तो इनके सामने सबसे सरल उपाय यह था कि वे घात लगा-लगाकर अंग्रेजों को धीरे-धीरे अपने तीरों का निशाना बनाते चलते। अंत में अंग्रेज लोग भयाक्रांत होकर स्वयं ही उनका इलाका छोड़ जाते। किन्तु ये लोग चरित्रवान लोग थे। घात लगाकर अपने शत्रुओं को तीरों से छेद डालना इनके लिए बड़ा सरल काम था, लेकिन धोखे से शत्रु को मारना इनकी परंपरा नहीं थी। इन लोगों की आत्मा ने इन्हें इतना नीच नहीं बनने दिया था। ये लोग अच्छी तरह जान चुके थे कि अब इनके पास केवल एक ही रास्ता बचा है और वह है अंग्रेजों से आमने-सामने का युद्ध। इसलिए इन्होंने अंग्रेजों से आमने-सामने दो-दो हाथ करने का फैसला कर लिया।

क्योंकि अंग्रेज लोगों को इस प्रकार के विद्रोह की पहले से तनिक भी भनक नही लग पाई थी, इसलिए सब

के सब अंग्रेज अधिकारी इस अचानक फूट पड़े विद्रोह को देखकर ठगे-से रह गए। हमारे ये देशवासी जंगलों में रहा करते थे। जिस तरह जंगल के वृक्ष बड़े धैर्यवान और विनम्र होते हैं उसी तरह ये लोग भी बहुत धीरजवाले और स्वभाव से बड़े कोमल और विनम्र थे। लेकिन जो विदेशी शासक इन पर जुल्म पर जुल्म ढाते चले जा रहे हों, उनके खिलाफ आवाज़ तो उठानी ही थी। हमने वृक्षों के धीरज की चर्चा की। और धीरज भी कैसा अद्‌भुत धीरज! आप वृक्ष को कुल्हाड़ियों से छाँटते जाइए, वह उफ तक नहीं करेगा और आखिर मे छँटते-छँटते स्वयं जमीन पर गिर पड़ेगा। यही स्वभाव इन संथाल लोगों का था। जब तक इन लोगों में सहन-शक्ति रही, ये अंग्रेजों के जुल्म सहते रहे। बात यह थी कि सन् 1838 में अंग्रेजों ने इन लोगों को कुछ भूमि पट्टे पर दी थी। इस भूमि के लगान के रूप में इन संथाल भाइयों को उन दिनों दो हज़ार रुपये की रकम चुकानी पड़ती थी। उन दिनों यह एक मोटी रकम हुआ करती थी। जब अंग्रेजों को इतने से भी संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने कुछ साल बाद इस रकम को बढ़ाकर चवालीस हज़ार रुपये कर लिया। तब भी संथाल भाइयों ने उफ तक नहीं की। वे अपना पेट काट-काटकर अंग्रेजों को चवालीस हज़ार रुपये भी चुकाते रहे। जब इनके पास धन की जुगाड़ नहीं हो पाती थी तो ये लोग कर्ज़ लेने के लिए ज़मीदारो का दरवाजा खटखटाते थे। और ये ज़मींदार भी इतने अधिक सूदखोर हुआ करते थे कि कर्ज़ के सौ रुपयों पर पाँच-पाँच सौ रुपये तक ब्याज वसूल किया करते थे। जब तक ये लोग उधार की रकम चुका नहीं पाते थे तब तक कर्ज़े के बदले इन्हें जमीदारों के खेतों-खलिहानों में गुलामों की तरह बेगार करनी पड़ा करती थी। कभी-कभी तो ऐसा भी होता था कि ऋण लिया दादा ने, बेगारी भुगतते थे नाती-पोते। आखिर कोई करता भी क्या? प्रथा ही कुछ ऐसी थी। लेकिन इस पर भी जब तक इन संथाल भाइयो से बना, ये मन मसोस-मसोसकर जमींदारों के सब अत्याचार सहते रहे। आप सोचेंगे, आखिर ऐसा हुआ क्या कि ये संथाल लोग, जो इतने विनम्र और सहनशील थे, वे एकाएक इतने क्यों भड़क उठे और अंग्रेजों के इतने कट्टर दुश्मन कैसे बन गए? सोचने की बात है कि जो लोग जंगलों मे बाघ-चीतों और मगरमच्छ-घड़ियालो जैसे भयानक जीवों के बीच आसानी से रह लेते थे, वे लोग अंग्रेजों और उनके गुर्गे जमींदारों के बीच क्यों नहीं रह पाए?

शायद इन लोगों की सहन-शक्ति की सीमा आ चुकी थी। एक तो भूख और उस पर अंग्रेजों के जुल्म उन्हें मारे डाल रहे थे। मरना तो उन्हे था ही। लेकिन उन्होंने इस तरह मरने के बजाय लड़ते-लड़ते शान से मरने का फैसला किया।

बंगाल के गहन जंगलोंवाले संथाल परगना और वीरभूम जिले में रह रहे पचास हजार व्यक्ति मानो एक

व्यक्ति के रूप में उठ खड़े हुए। उन्होंने बीन-बीनकर ईस्ट इंडिया कंपनी के कार्यालयों को जला डाला। कुछ ब्रिटिश अधिकारी और अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात कुछ ज़मींदार लोग भी मार डाले गए। ये लोग नाचते हुए स्वतंत्रता की लय पर आजादी के गीत गाने लगे–

"हम सब ईश्वर की संतान।
नहीं किसी के और गुलाम।"

ब्रिटिश सिपाहियों के लिए इतने घने जंगलों में जाने का यह पहला अवसर था। उन्होंने इस विद्रोह को कुचलने के लिए कई तरह के नए-नएं उपाय किए। एक बार तो उन्होंने पचास हाथियों को शराब पिला दी। हाथी पागल हो गए। इन पागल हाथियों को आदिवासियों के गाँवों की ओर छोड़ दिया गया। इन हाथियों ने सैकड़ों औरतों और बच्चों को अपने पैरों तले रौंद-रौंदकर मार डाला।

संथालों को लड़ाई लड़ने का सिर्फ एक ही तरीका आता था–आमने-सामने की स्पष्ट लड़ाई। चतुराई से युद्ध की योजनाएँ बनाना और चालाकी से लड़ना उन्हें आता ही नहीं था। वे तो चुपचाप एक समूह में इकट्ठे होकर खड़े हो जाते और शत्रु के आने का इंतजार करते रहते। जब शत्रु सामने आ जाता तो वे तीर चलाने लगते। शत्रु-पक्ष की ओर से उन पर बंदूकों और तोपों से गोलियाँ-गोले बरसाए जाते। किंतु गोलियों और आग से डरकर पीछे हट जाना उनके स्वभाव में ही नहीं था। पीछे हटना तो उन्होंने अपने जीवन में कभी सीखा ही नहीं था। वे अपने मोर्चों पर तब तक डटे रहते जब तक कि या तो शत्रु उन्हें मार डाले या वे शत्रु को मार डालें।

कई अंग्रेज सिपाहियो ने संथालो के इस विचित्र व्यवहार के बारे में बयान दिए, जिन्हें बाद में इतिहासकार हंटर ने अपने इतिहास में लिखा भी। एक ब्रिटिश कप्तान ने तो यहाँ तक कहा कि इस लड़ाई मे शायद ही कोई ऐसा ब्रिटिश सिपाही रहा हो जिसे इन निश्छल, सीधे-सादे और प्रायः निहत्थे संथालों से लड़ते हुए शर्म न महसूस हुई हो।

ब्रिटिश सिपाहियों को आदेश था कि जैसे ही उन्हे कोई गाँव दिखाई दे वे अचानक उस पर धावा बोल दें। जंगल इतने घने थे कि उनमें बसे गाँवों को खोज पाना बड़ा दूभर काम था। अतः आक्रमणकारी सेनाओं को यह सुझाव दिया गया–"वृक्षों की चोटियो को देखते रहो। जब तुम्हें इनसे होकर धुआँ ऊपर उठता दिखाई दे, समझ जाओ कि इन वृक्षों के नीचे गाँव बसा है।"

इस तरह टोह लगाते-लगाते एक दिन अंग्रेजो की फौजें एक गाँव में जा पहुँचीं। गाँववालों ने भी आव देखा न ताव, बस इन जवानों पर तीरों की बौछार शुरू कर दी। एक घर से तीर पर तीर छूटते चले आ रहे थे।
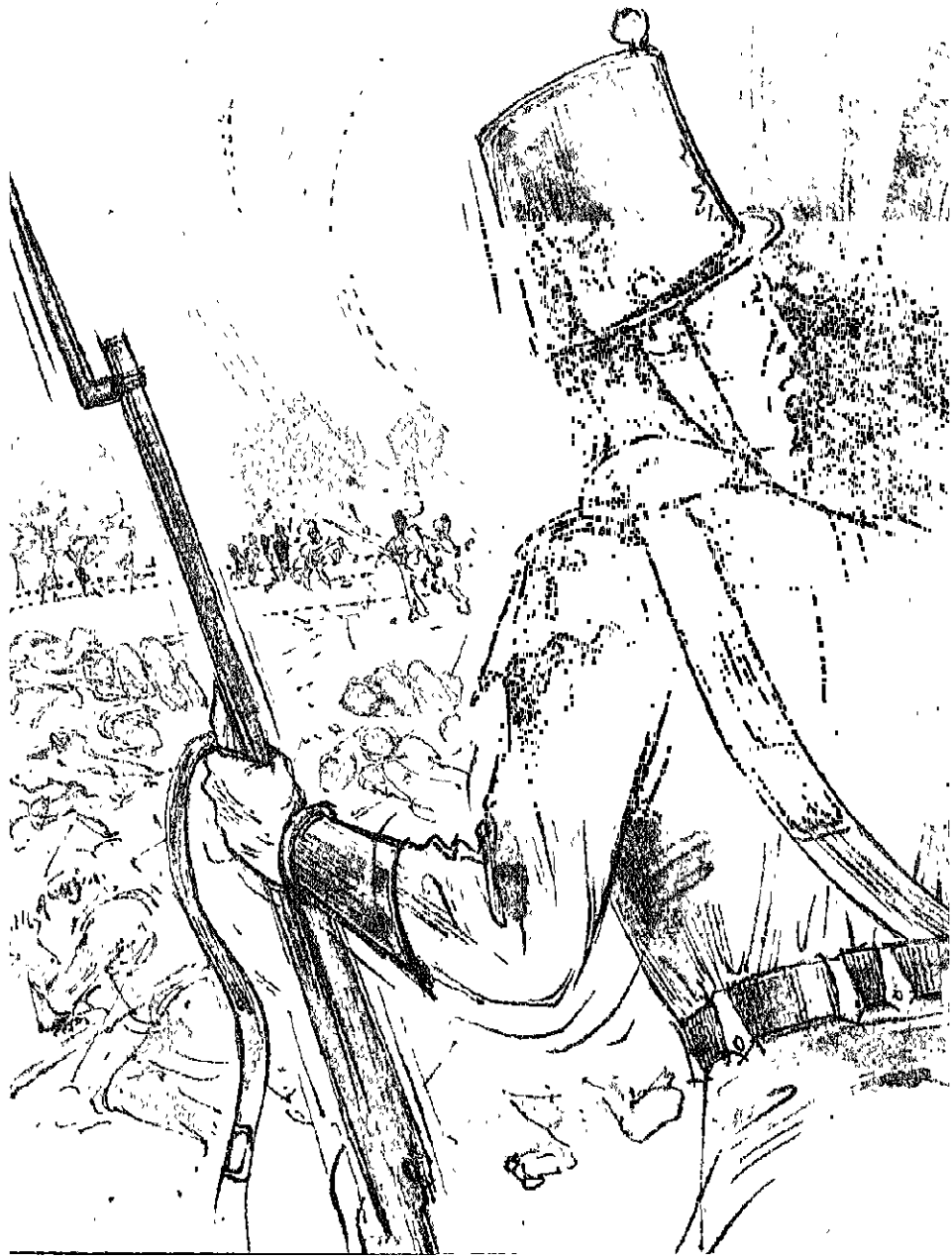
फौज के सिपाहियों ने इस घर को चारों तरफ से घेर लिया। उन्होंने घर की दीवारों में छेद करके उनमें अपनी बंदूकों की नलियाँ सटा दीं और धुआँधार गोलियाँ दागने लगे। जब बहुत देर तक गोलीबारी हो चुकी तो फौज के कप्तान ने पुकारा– "अब तुम लोग बाहर निकल आओ और अपने आपको हमारे हवाले कर दो।" लेकिन भीतर से कोई जवाब नहीं आया। बस तीर पर तीर आते रहे। अंग्रेज बार-बार कहते कि आत्म-समर्पण कर दो, लेकिन जवाब में सिर्फ तीर ही आते।

यह सिलसिला कुछ देर तक और चलता रहा। जैसे-जैसे गोलीबारी बढ़ती जाती, भीतर से तीर आने कम होते जाते। यहाँ तक कि एक वक्त ऐसा भी आ गया कि भीतर से केवल एक ही तीर जवाब में मिलता। और ··· अब वह तीर भी आना बंद हो गया। फौज ने घर का दरवाज़ा तोड़ दिया और घर के भीतर घुस आई।

भीतर आकर फौज ने देखा कि कई लोग मरे पड़े हैं। कुछ लोग कराह रहे हैं और धीरे-धीरे दम तोड़ते जा रहे हैं। इन लोगों में अब सिर्फ एक बूढ़ा आदमी जिन्दा बचा था। वह आदमी लाशों के अंबार के बीचों-बीच आकर खड़ा हो गया। यह वही आदमी था जिसने आखिरी तीर चलाया था। अंग्रेज फौज बूढ़े आदमी पर धुआँधार गोलियाँ बरसाने लगी। उस आदमी की दाईं बाजू छलनी-छलनी हो गई। अब वह मजबूर हो गया था, तीर चलाता भी तो कैसे?

फौज का कप्तान बूढ़े आदमी की ओर लपका और चीख उठा– "अपने आपको हमारे हवाले कर दो।" तभी बूढ़े आदमी ने अपना खंजर खींच लिया और पलभर में देखते-ही-देखते फौजी कप्तान का सिर धड से कटकर जमीन पर आ गिरा। उस आदमी का दायाँ हाथ ही तो बेकार हुआ था, बायाँ तो सही-सलामत था।

अपने कप्तान की मौत पर फौज भड़क उठी और क्रोध के मारे धुआँधार गोलियाँ बरसाने लगी। अब वह बूढ़ा आदमी भी लाशों के अंबार में गिर पड़ा।

संथाल लोगों की आजादी की लड़ाई अब समाप्त हो चुकी थी। इस लड़ाई में पच्चीस हज़ार लोग काम आए।

आखिर इस आदमी का, जिसने कि आखिरी तीर चलाया था, नाम क्या था? इस आदमी के नाम के बारे में इतिहास खामोश है। लेकिन क्या इस आदमी को हम कोई नाम नहीं दे सकते? नाम तो दिया ही जा सकता है। इस आदमी का नाम हो सकता है–अपराजेय शूरवीर!

2

कर्नाटक प्रदेश में एक रियासत थी–कित्तूर। इस रियासत की एक रानी थी। आज से लगभग डेढ़ सौ बरस पहले इस रानी ने अपने राज्य की स्वतंत्रता के लिए बड़ा भारी संग्राम किया था। यही कारण है कि कर्नाटक प्रदेश के उत्तर-पश्चिमी इलाकों मे प्रचलित लोकगीतों में इस रानी का नाम आज भी एक बहादुर और सर्वश्रेष्ठ रानी के रूप में लिया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ के दिन थे। इस राज्य में मल्ल सुर्जा नाम के एक राजा राज्य करते थे। मल्ल सुर्जा के दो रानियाँ थीं–रुद्रम्मा और चेनम्मा। बड़ी रानी को राजकाज के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन चेनम्मा रानी अपने पति के गिरते स्वास्थ्य के प्रति बहुत चिंतित रहा करती थी। वह हमेशा चौकस रहा करती थी और अपने पति की राजकाज की जिम्मेदारियों में हाथ बँटाया करती थी।

सन् 1816 में मल्ल सुर्जा चल बसे। चेनम्मा रानी ने रुद्रम्मा के बेटे बापू साहब को राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं अपने बेटे को उसका अंगरक्षक बना दिया। दुर्भाग्य से इन दोनों राजकुमारों की जवानी में ही मौत हो गई। रानी की हिम्मत टूट गई। किन्तु रानी दूरदर्शी थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े राजा ने रानी की इच्छा के अनुसार एक बेटा गोद ले लिया। अब रानी ने शासन की बागडोर अपने हाथों में संभाल ली और वह उस दिन का इंतजार करने लगी जब वह बेटा बड़ा होकर राजकाज सँभाल लेगा। रानी की इच्छा थी कि इसके बाद वह किसी तीर्थ स्थान पर चली जाएगी और शांति से अपने जीवन के शेष दिन बिताएगी।

एक शासक के रूप मे चेनम्मा रानी बहुत सफल सिद्ध हुई। उसके राज्य की प्रजा चेनम्मा रानी को अपनी माँ और एक देवी के रूप में पूजती थी। वह बहुत न्यायप्रिय और उदार थी। उसका हृदय बहुत कोमल था। लेकिन वह हमेशा अपने आदर्शों और सिद्धान्तों पर दृढ़ रहा करती थी।

कित्तूर राज्य में कुछ कपटी लोग भी थे। इन्हें राज्य की सुख-शांति अच्छी नहीं लगती थी और ये लोग
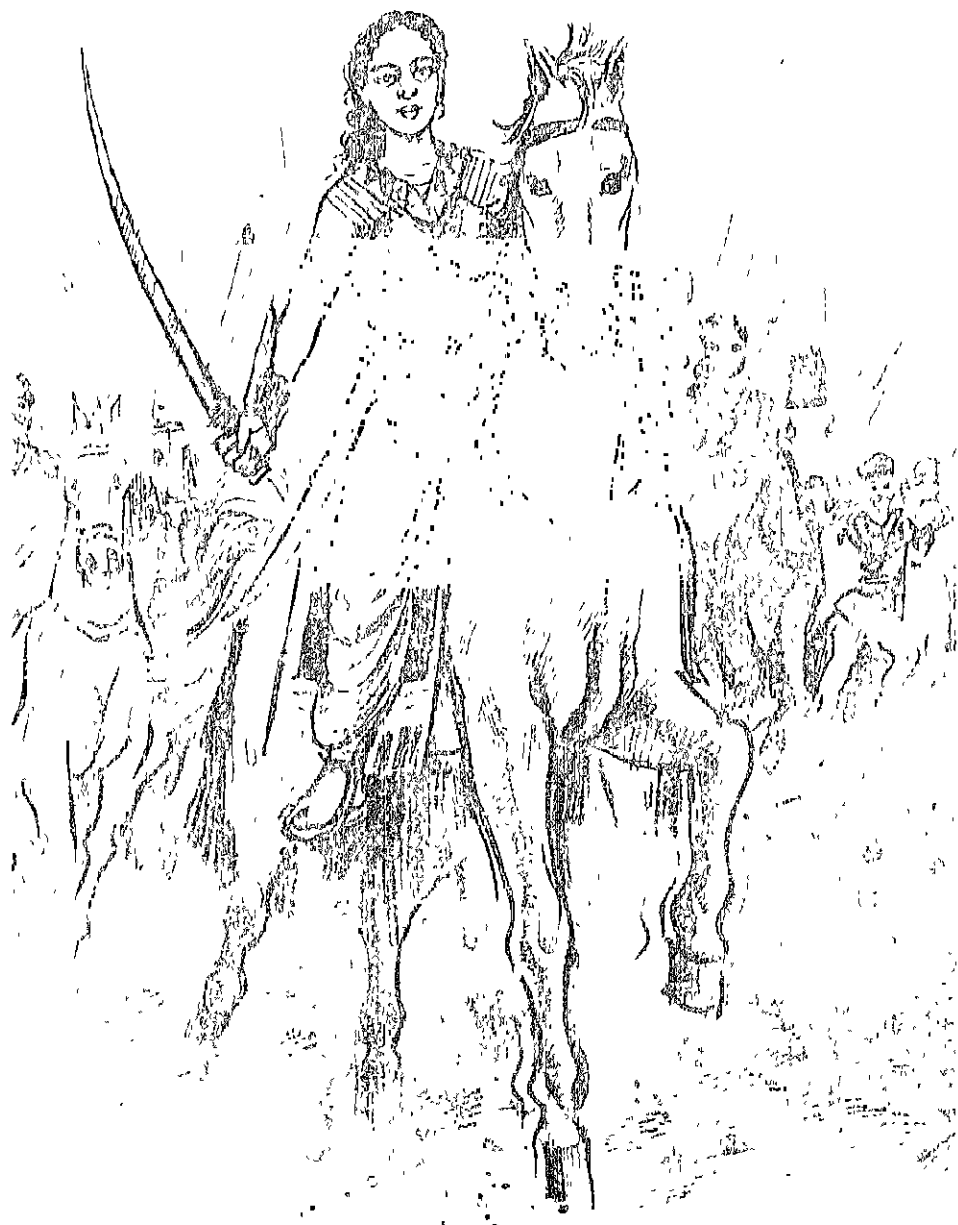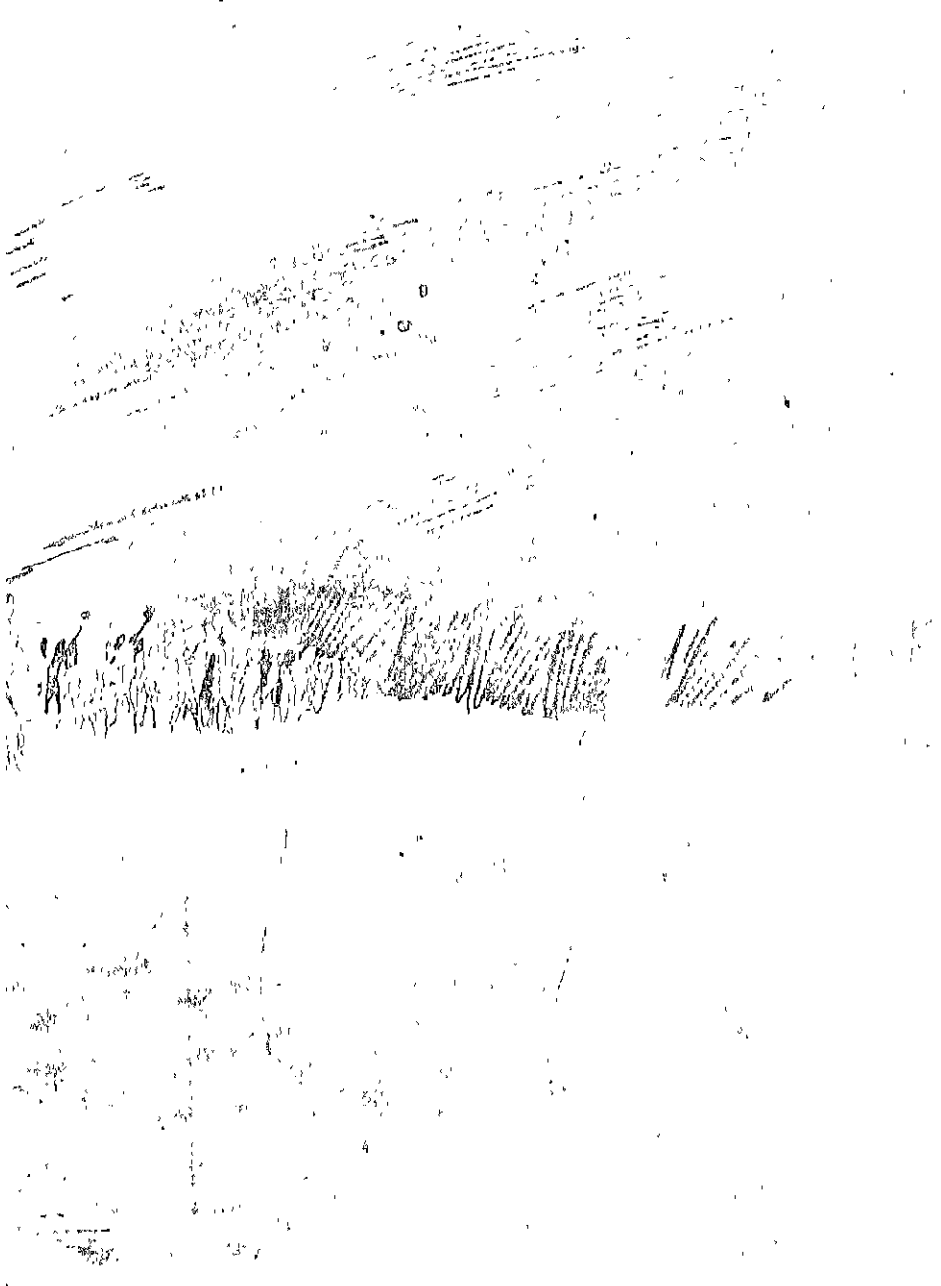
तरह-तरह की विघ्न-बाधाएँ खड़ी करते रहते थे। यदि ये लोग न होते तो राज्य में सुख-शांति बनी रहती। इन छली-प्रपंची लोगों में एक थैकरे नाम का एक आदमी भी था। थैकरे ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक अधिकारी था। उसने अस्त्र-शस्त्रों से लैस एक फौज तैयार की और कित्तूर आ पहुँचा। उसका कहना था कि क्योंकि अब बापू साहब की मृत्यु हो गई है इसलिए कित्तूर राज्य पर कंपनी का अधिकार हो गया है।

थैकरे का यह दावा अचरज भरा तो था ही, निर्लज्जतापूर्ण और मनगढ़ंत भी था। ऐसा कभी कोई नियम ही नहीं बनाया गया था जिसके अनुसार कित्तूर को कंपनी के अधीन लाया जा सकता हो। कंपनी को कित्तूर के मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था, इस राज्य को अपने अधिकार में लेने की तो बात ही दूर रही।

किन्तु थैकरे बहुत धृष्ट और धूर्त था। उसने रानी को अपने कैंप में आने का बुलावा भेजा। रानी बहुत झल्लाई और उसने इस बुलावे की अवहेलना कर दी। इसके अलावा वह और कर भी क्या सकती थी? आखिर थैकरे ने रानी को अंतिम चेतावनी दी। रानी ने इस पर भी ध्यान नहीं दिया। अब क्या था। थैकरे ने महल के चारों ओर तोपें लगवा दीं और मुनादी करवा दी कि महल को चारों ओर से घेर लिया गया है।

महल से रानी के सैनिकों के झुंड के झुंड बाहर निकल पड़े और थैकरे की फौजों पर टूट पड़े। थैकरे की हमलावरी आवाज़ जैसे दब गई। कंपनी के सैकड़ों सैनिक मारे गए जिनमे दो महत्वपूर्ण कप्तान भी थे- ब्लैक और डिप्टन। थैकरे हताश हो गया और उसने अपनी पूरी ताकत से महल में घुसने की कोशिश की। रानी चेनम्मा इस सारे युद्ध का संचालन अपने महल की छत से कर रही थी। जब उसने थैकरे को महल की ओर बढ़ते देखा तो उसने अपने एक अधिकारी को संकेत से उसकी ओर इशारा कर दिया। बिजली की गति से एक गोली दनदनाती हुई आई और थैकरे के आर-पार निकल गई। थैकरे मर गया और अपने घोड़े से नीचे आ गिरा। थैकरे बहुत घमंडी था। वह चाहता था कि इतिहास उसे एक विजेता के रूप में याद करे।

कंपनी की फौज के बहुत-से अधिकारियों को पकड़कर बंदी बना लिया गया। कंपनी के बहुत-से सैनिक मारे गए और अनेक भाग खड़े हुए। रानी चेनम्मा आमने-सामने की इस भिड़न्त में जीत गई थी।

कंपनी के उच्च अधिकारियों ने जब इस हार की खबर सुनी तो वे भौंचक्के रह गए। वे एक छोटी-सी रियासत की रानी से हार जाने के कारण खिसिया गए थे। भारत के विभिन्न हिस्सों में उनकी फौजें बिखरी हुई थीं। उन्होंने अपनी पूरी फौज इकट्ठी करके कित्तूर पर चढ़ाई करने के लिए भेज दी।

लेकिन इन फौजों ने महल पर तत्काल हमला नहीं बोला। उनकी फौज के बहुत-से लोग महल में बंदी थे। (बाद में बंदियों ने बताया कि जेल में उनके साथ बड़ी सज्जनता और सहानुभूति से व्यवहार किया गया था।) इन फौजों को डर था कि यदि महल पर हमला कर दिया गया तो उनके अपने बहुत से बंदी-साथी मारे जा सकते है।

इन फौजो ने एक कपट भरी चाल चली। उन्होंने रानी के प्रति अपनी इज्ज़त प्रकट करते हुए उसे भरोसा दिलाया कि अगर उनके बंदी-साथियों को छोड़ दिया जाए तो वे रानी से शांति का समझौता करने के लिए तैयार हो जाएँगे। रानी चेनम्मा ने उनके प्रस्ताव पर भरोसा करके सारे बंदियों को छोड़ दिया। लेकिन जैसे ही वे बंदी लोग अपने साथियो के पास पहुँचे, सबने मिलकर महल पर हमला बोल दिया।

रानी के सैनिक बड़ी बहादुरी से लड़े। लेकिन रानी की फौजों के मुकाबले कंपनी की फौजों के पास अधिक हथियार थे और अब उनकी संख्या भी काफी हो गई थी। कंपनी की फौजों ने रानी के अस्त्र-शस्त्रों के भंडारों को नष्ट कर दिया। कंपनी की फौजों ने बड़े सुनियोजित और सुव्यवस्थित तरीके से इन्हें नष्ट किया। इन भंडारों से धू-धू कर आग की लपटें उठने लगीं। रानी के सैनिक हिम्मत हार गए और अधिक समय तक लड़ाई जारी नहीं रख सके। रानी चेनम्मा को बंदी बना लिया गया। सन् 1829 में रानी चेनम्मा ने बेलहोंगल के किले में एक बंदी के रूप में ही अपना शरीर छोड़ा।

आज बेलगाँव में रानी चेनम्मा की एक जीती-जागती सी प्रतिमा है। हालांकि रानी चेनम्मा एक छोटे-से राज्य की ही रानी थी, लेकिन वे जिस उद्देश्य के लिए लड़ी, वह न्यायपूर्ण था। घोड़े की पीठ पर सवार रानी चेनम्मा की मूर्ति को देखकर हमें बरबस झांसी की रानी की याद आ जाती है। ध्यान देने की बात है कि रानी चेनम्मा झांसी की रानी से तीस साल पहले ही यह सब कर चुकी थी।

3

[illegible]

"बिजली की गति से हमला करनेवाला क्या वह नौजवान मारा गया जिसने हमारे कप्तान और बहुत-से सैनिकों को आज हताहत कर दिया था? वह बिजली की चकाचौंध की तरह हमारी सुरक्षा-पंक्ति में घुस आया था और हमारे सैनिक ऐसे धडाधड़ मरकर गिरने लगे थे मानो उन्हें बिजली के तार छू गए हों।"

ग्वालियर के पास हुए पूरे दिन के युद्ध के बाद अंग्रेज फौज के सिपाही पास में ही कहीं अपने कैंप मे रात को आराम कर रहे थे। तभी एक थके-मांदे अंग्रेज सैनिक ने अपने साथी से यह बात पूछी थी। यह सन् 1858 ई. की बात है।

दूसरा साथी हँसकर बोला– "भाई! वह पुरुष नहीं, स्त्री है लेकिन है एक बहादुर 'मर्द' की तरह। मैंने आज तक ऐसी स्त्री देखी ही नहीं। उसका नाम झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई है।"

फ्रांस को आजाद करानेवाली जॉन आफ आर्क को छोड़कर संसार के समूचे इतिहास मे हमें ऐसा दूसरा कोई स्त्री-चरित्र दिखाई नहीं पड़ता। लक्ष्मीबाई की कुलीनता, शालीनता, साहस और नेतृत्व-शक्ति की तुलना केवल जॉन आफ आर्क से ही की जा सकती है।

जॉन की तरह लक्ष्मीबाई भी एक साधारण परिवार में ही पैदा हुई थी। जब ज्योतिषियों ने लक्ष्मीबाई की जन्म-कुंडली देखी थी तो भविष्यवाणी की थी कि इस लडकी में एक महान नेता के गुण होंगे। बड़ी होने पर उसका विवाह झाँसी के राजा गंगाधर राव से हो गया।

अभी लक्ष्मीबाई मुश्किल से अठारह साल की ही हो पाई होगी कि राजा चल बसे। रानी ने हिम्मत से काम लिया और शासन की बागडोर स्वयं सँभाल ली। रानी जिस तरह राज-काज चलाती थी, एक आदर्श राजा ही उस तरह हकूमत चला सकता था। झाँसी की जनता के मन मे रानी के लिए अपार आदर, श्रद्धा और

सम्मान पैदा हो चला था।

आपको पता ही है, इस समय तक भारत में ईस्ट इंडिया नामक एक व्यापारिक संस्था अपनी हकूमत स्थापित कर चुकी थी। लेकिन भारत के बहुत से हिस्से अभी भी ऐसे थे जहाँ स्थानीय राजाओं का ही राज्य था। कंपनी को यह बात फूटी आँख नहीं सुहाती थी। कंपनी सदा इस ताक में रहती थी कि कोई-न-कोई बहाना गढ़कर इन राज्यों के राजाओं के विशेष अधिकारों को हड़प लिया जाए।

कंपनी की सरकार ने एक नियम बना डाला कि अगर कोई राजा निस्संतान मर जाएगा तो उसके राज्य और संपत्ति पर कंपनी का अधिकार अपने आप हो जाएगा। इस नियम के विपरीत भारत में एक परंपरा बहुत समय पहले से चली आ रही थी। इस भारतीय परंपरा के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के संतान न हो तो उसे संतान गोद लेने का अधिकार था। इसी परंपरा के अनुसार लक्ष्मीबाई ने भी एक पुत्र गोद ले लिया था और उस पुत्र की ओर से झाँसी पर शासन कर रही थी। लेकिन कंपनी को तो बहाना चाहिए था। कंपनी ने रानी के इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया कि वह किसी बच्चे को पुत्र के रूप में गोद लेकर उसकी ओर से शासन कार्य चला सकती है।

इसी बहाने अंग्रेजों ने झाँसी पर कब्जा करने के लिए अपनी फौजें भेज दीं।

रानी उत्तेजित हो उठी। क्रुद्ध रानी का कहना था "आखिर इन विदेशियों ने यह अधिकार कैसे ले लिया है कि वे यहाँ के खुदमुख्तियार राजाओं पर अपने आपको लादते चले जाएँ। अगर वे ऐसी जुर्रत दिखा रहे हैं तो उन्हें अपने मन की करने दीजिए, मुझ पर इसका कोई असर नहीं पड़ता।" रानी ने अपनी फौजों को आदेश दिया कि वे कंपनी के कैंपों पर धावा बोल दें। रानी की फौजों ने अंग्रेज सेनाओं की जमकर धुनाई की और उन्हें पीछे धकेल दिया। राज्य में फिर एक बार शांति स्थापित हो गई और रानी का राजकाज ठीक तरह से चलने लगा। इस तरह समय गुजरता गया।

रानी दूध जैसी सफेद पोशाक पहना करती थी। जब रानी अपने मंत्रियों और कमांडरों के सामने आती तो ये लोग उसके प्रति अपने हृदय का आदर प्रकट करने के लिए इस तरह झुककर प्रणाम करते थे मानो भक्त लोग अपने इष्ट-देवता के सामने अपने-अपने शीश नवा रहे हों। रानी उनसे जो कुछ कहती थी उसे सुनकर वे प्रेरणा से भर उठते थे। रानी को देखकर उनकी निगाहें हिम्मत से चमक उठती थीं।

लेकिन अंग्रेज लोग अपनी हार को भुला नहीं पाए थे। वे बदले की भावना से भीतर ही भीतर तिलमिला रहे

थे और झाँसी पर हमला करने के लिए उचित मौके की तलाश में थे।

उन दिनों अंग्रेज फौज़ में एक सर ह्यू रोज़ नामक जनरल था। रण-कौशल में उसे सबसे योग्य और चतुर जनरल माना जाता था। सन् 1858 ई. के जनवरी के महीने में सर ह्यू रोज़ के नेतृत्व में दो विशाल रेजीमेंट बनाई गई। इन रेजीमेंटों ने झाँसी पर दो ओर से हमला बोल दिया। इन रेजीमेंटों के पास बढ़िया से बढ़िया तोपें और दूरबीनें थीं जिनकी सहायता से वे लोग बहुत दूर से भी अपना निशाना साधकर ठीक स्थान पर मार कर सकते थे। ये लोग झाँसी में घुस आए। झाँसी के किले में बड़े-बड़े जलाशय बने हुए थे। किले में गोले-बारूद के बड़े-बड़े भंडार भी थे। अंग्रेज फौजों ने सबसे पहले इन्हें ही नष्ट करने की कोशिश की। हालांकि जिस प्रकार की तोपें झाँसी की सेनाओं के पास थीं वे अंग्रेज सेनाओं की तोपों के मुकाबले में घटिया किस्म की थीं, लेकिन जो सैनिक इन तोपों को चला रहे थे उनका मनोबल, उनकी वीरता और उनकी निष्ठा अंग्रेज फौजों से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। कई दिनों तक लड़ाई चलती रही लेकिन अंग्रेज सैनिक आगे नहीं बढ़ सके। दोनों कैंपों में रोज सैकड़ों लोग मारे जाते।

भारत की जनता में इस समय तक ईस्ट इंडिया कंपनी के जुल्मों के खिलाफ काफी रोष पैदा हो चुका था। इतना ही नहीं, लोगों ने इनका मुकाबला करने के लिए हथियार भी उठा लिए थे। विदेशियों के खिलाफ लोगों के दिलों में एक बड़ी भारी क्रांति की भावना सुगबुगा रही थी, हालाँकि उस समय इसे सैनिक सिपाहियों का गदर कहा गया था। कंपनी की फौजों में भारतीय सैनिक भी हुआ करते थे। दरअसल इस क्रांति की शुरुआत से पहले इन भारतीय सैनिकों के कई गुटों ने अंग्रेज सरकार के खिलाफ विद्रोह का बिगुल बजा दिया था। तांत्या टोपे इस विद्रोह के महान नायक थे। वे रानी की सहायता करने के लिए अपने पच्चीस हज़ार सैनिकों के साथ झाँसी की तरफ बढ़ चले। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि कार्य जिस भावना से शुरू किया जाता है, उसका उलटा परिणाम सामने आता है। दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ। डर के मारे अंग्रेजों की हिम्मत टूट गई और वे रानी के किले की ओर भागे। किले की रक्षा के लिए जो बहादुर शूरवीर सैनिक वहाँ तैनात थे उन्होंने मार-काट शुरू कर दी। महल के पिछवाड़े कुछ गुप्त दरवाजे भी थे। ऐसा लगता है कि महल के किसी एक गद्दार रक्षक ने अंग्रेज सैनिकों को भीतर घुसने देने के लिए कोई दरवाजा खोल दिया और ये लोग धड़ाधड़ भीतर घुस आए। झाँसी के ही किसी जासूस ने दरवाजा खोलने के लिए इस सैनिक को एक मोटी रकम घूस के रूप में थमा दी थी।

सन्नाटे की रात थी, अंधेरा ही अंधेरा था। रानी ने देखा, उसके महल में अंग्रेज सैनिक ज्वार-भाटे की तरह उमड़े चले आ रहे हैं। रानी अपनी सफेद पोशाक में ही थी। रानी ने जल्दी से अपने पुत्र को अपनी पीठ पर

कसा और किले से बच निकली। उसके साथ उसके कुछ विश्वासपात्र अंगरक्षक भी थे।

रानी कालपी की ओर बढ़ चली। झाँसी से कालपी काफी दूर है। कभी घोड़े पर तो कभी हाथी पर – इस तरह रानी ने अपना यह सफर पूरा किया। उन दिनों नाना साहब का नाम बहुत मशहूर था। (नाना साहब के बारे में हम आगे पढ़ेंगे।) नाना साहब के भानजे और तांत्या टोपे भी रानी के साथ हो लिए। जब अंग्रेज फौजों को यह सूचना मिली तो वे भी रानी का पीछा करते हुए वहाँ जा पहुँचीं। इस भाग-दौड़ के बीच जब भी रानी को समय और अवसर मिलता, वह अन्य राजाओं से संपर्क स्थापित करके उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ा होने की प्रेरणा देती रहती। यही कारण था कि अंग्रेज अब रानी को अपना अव्वल नंबर का शत्रु मानने लगे थे।

रानी और अंग्रेजों की फौजों में घमासान लड़ाइयाँ हुईं। रानी सदा अपनी फौजों के आगे ही रहती। शत्रुओं की तोपें आग उगल रही थीं। बंदूकें गोलियाँ बरसा रही थीं। लेकिन रानी की अद्‌भुत हिम्मत देखिए कि वह अपने हाथ में सिर्फ तलवार लिए शत्रुओं की फौजों में घुस जाती और जबरदस्त मारकाट मचा देती। रानी का ऐसा अद्‌भुत साहस देखकर अंग्रेज लोग भी दाँतों तले अँगुली दबा लेते थे। अंग्रेजों ने बड़ी चतुराई से

रानी की घेराबंदी की थी। लेकिन इस सबसे स्वयं को बड़ी चतुराई और हिम्मत से बचाते हुए वह अंग्रेज फौजों पर हमले-पर-हमले करती रही। रानी की जबरदस्त मारकाट के सामने कई बार अंग्रेज फौजों को पीछे हटने के लिए विवश होना पड़ा।

लड़ते-लड़ते भागते-भागते रानी ग्वालियर आ पहुँची। ग्वालियर के राजा अंग्रेजों के पक्ष में थे। राजा अपना किला छोड़ गए। उनकी फौजों ने रानी और उसके दो देशभक्त साथी-मित्रों–तांत्या टोपे और राव साहब के सामने हथियार डाल दिए।

अब ग्वालियर की फौज भी इन देशभक्त लोगों के साथ थी। अब वे लोग भी समझ गए थे कि कंपनी के हमलों से देश को बचाना है। और किसी बात से अंग्रेज इतनी हिम्मत नहीं हारे थे, लेकिन अब झाँसी और ग्वालियर की फौजें एक होकर उनसे लड़ने लगीं तो उनका मनोबल टूट चला। उस समय के ब्रिटिश गवर्नर जनरल को जब इस घटना का पता चला तो उसने सर ह्यू रोज़ को कड़े शब्दों में लिखा कि या तो वह ग्वालियर के किले पर दुबारा अपना कब्जा करे या इंग्लैंड लौटने के लिए अपना बोरिया-बिस्तर समेट ले।

लाचार अंग्रेज फौज ने अपनी सारी शक्ति और साधन एकत्रित करके अपनी पूरी ताकत से ग्वालियर के विद्रोहियों पर हमला बोल दिया।

पूरे दिन घमासान युद्ध होता रहा। रानी घंटों लड़ी। रानी की मार से आहत अंग्रेज फौजों को कई बार तो अपने सिर पर पाँव रखकर पीछे भागना पड़ा। अंग्रेज फौज रानी के सामने टिक नहीं पा रही थी, लेकिन दोपहर के बाद अंग्रेजों की फौज में एक और नई रेजीमेंट आ जुड़ी। इससे उनकी शक्ति बढ़ गई। रानी और उसके साथी-सहयोगी लड़ते-लड़ते थककर चूर हो गए थे। इसके अलावा तभी एक और दुर्घटना हो गई। रानी का पुराना घोड़ा, जो लड़ाई के मैदान में रानी का हर इशारा समझता था, दम तोड़ चुका था। अब रानी के पास जो नया घोड़ा था उसे लड़ाई के मैदान का कोई तजुर्बा नहीं था।

इन सारी विवशताओं के कारण उस दिन रानी ने फैसला किया कि जैसे भी हो, आज की लड़ाई टाल दी जाए। लेकिन शत्रु बहुत खूँख्वार हो उठा था और रानी की जान के पीछे हाथ धोकर पड़ गया था। हालाँकि रानी पीछे हट रही थी, लेकिन अपने पीछे आती अंग्रेज फौजों से भी उन्हे भिड़ना पड़ जाता था।

शाम का धुँधलका छाने लगा था। रानी चाहती तो इसका लाभ उठाकर अपने को बचाकर निकल सकती थी।

लेकिन रानी के साथ एक स्त्री और भी थी। यह स्त्री भी पुरुष-वेश में थी और रानी के लिए सदा से वफादार रही थी। उसने पूरे युद्ध में रानी का साथ दिया था और इस समय उसके जानलेवा चोटें आई हुई थीं। जब रानी ने उस शत्रु सैनिक को देखा जो उस स्त्री पर हमला कर रहा था तो रानी पलभर को ठिठकी और तत्काल उसे काट डाला। रानी की सखी के प्राण निकलते जा रहे थे। रानी ने उस निढाल होती जा रही अपनी सखी को अपनी बाहों में समोने की कोशिश की। तभी शत्रु के कुछ और सिपाही वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने रानी को घेर लिया। वे किसी कीमत पर रानी को जिंदा नहीं छोड़ना चाहते थे। ऐसे समय में भी रानी ने उन शत्रु सैनिकों से डटकर लोहा लिया और उनमें से बहुतों को या तो मार डाला या उनका अंग-भंग कर दिया। इससे पहले कि रानी कभी न उठने के लिए गिर पड़ती, शत्रु सैनिक फिर एक बार भाग खड़े हुए।

अब तक शत्रु सैनिकों को यह ज्ञात नहीं था कि यही रानी लक्ष्मीबाई है। यदि उन्हें इस बात का पता चल गया होता तो वे उसकी लाश को जरूर ही उठा ले जाते और अपने साथियों के बीच अपनी जीत की शेखी बघारते फिरते। दरअसल उन्हें धोखा हो गया कि जिससे वे लड़ रहे हैं वह रानी की फौज का कोई बहादुर कमांडर है।

रानी के साथ उसके कुछ वफादार सैनिक भी थे। वे रानी को उठाकर पास की एक कुटिया में ले गए। रानी का दम निकलता जा रहा था। रानी मद्धिम-सी आवाज़ में बुदबुदायी– मेरे शरीर को जल्दी-से-जल्दी जला डालो। मैं नहीं चाहती कि शत्रु इसे छू भी सकें।

तब तक अंग्रेजों को भी पता चल चुका था कि रानी अब नहीं रही। वे खुशी के मारे उछलने लगे और रानी की लाश की तलाश में निकल पड़े। किन्तु अब लेजाने को बचा ही क्या था? दो मुट्ठी राख।

अब रानी सदा-सदा के लिए देश के स्वतंत्रता-प्रेमियों के लिए प्रेरणा का अजस्र-स्रोत बन चुकी थी। अब रानी केवल एक किस्सा हो गई थी जो कभी खत्म नहीं होगा।

जवाहर लाल नेहरू ने रानी लक्ष्मीबाई के बारे में लिखते हुए कहा है:

"झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का नाम सबसे ऊपर आता है और वह एक लोकप्रिय यादगार के रूप में हमारे सामने है। बीस बरस की उम्र में ही यह लड़की लड़ते-लड़ते मारी गई। जो ब्रिटिश जनरल उनके खिलाफ युद्ध-संचालन कर रहा था उसने भी रानी को एक "सर्वश्रेष्ठ और सबसे बहादुर" चरित्र के रूप में स्वीकार किया था।"

4

[illegible]

बरसों पहले की बात है। तब मैं छोटा ही था। उन दिनों मैंने एक किस्सा पढ़ा था। यह किस्सा एक यात्री ने लिखा था। इस किस्से को पढ़कर मेरे रोंगटे खड़े हो गए थे।

हिमालय की तराई में कोई एकांत बंगला था। दिन भर का थका-मांदा एक यात्री यहाँ आराम कर रहा था।

साँझ होने को आ रही थी, चारों ओर झीना-सा आलोक फैला हुआ था। पर्वतों पर ऊँचे-ऊँचे देवदार के वृक्ष सरसरा रहे थे। इन घने पेड़ों के झुरमुटों की सघन छाया से छन-छनकर कोहरा इधर-उधर छितराता जा रहा था। यात्री ने अपने को गरमाने के लिए आग जला ली थी। तभी एक अजनबी वृद्ध महाशय वहाँ आ गए। उनकी दाढ़ी के सफेद बाल बरफ की तरह धवल थे जिनमें उनकी आँखे छोटे-छोटे सितारों की तरह चमक रही थीं।

ये महाशय सन् 1857 ई. के सैनिक गदर के दिलचस्प किस्से सुनाने लगे। बातों-बातों में बहुत समय बीत गया। सुननेवाला मंत्रमुग्ध होकर ये किस्से सुनता रहा। अंत में उसने सवाल किया– ''लेकिन आपको यह सब कैसे मालूम है?''

वृद्ध महाशय चल पड़ने के लिए उठ खड़े हुए और बुदबुदाए– ''क्यों? मैंने इन घटनाओं को स्वयं जिया है। क्या तुमने नाना साहब के बारे में नहीं सुना?'' यात्री उन्हें जाते हुए देखता रहा। धीरे-धीरे वृद्ध महाशय अंधेरे में खो गए।

जिस किसी ने भी इस सैनिक गदर के बारे में पढ़ा होगा उसने नाना साहब के किस्से जरूर पढ़े होंगे। वे पेशवा बाजीराव (द्वितीय) के गोद लिए हुए पुत्र थे। पेशवा लोग किसी समय मराठा शासक हुआ करते थे और इनके पूर्वज शिवाजी महान के दरबार में मंत्री हुआ करते थे।

यह किस्सा उन दिनों का है जब ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में राज था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने फैसला कर लिया था कि पेशवा को पुत्र गोद लेने का कोई अधिकार न दिया जाए। क्यों? दरअसल ईस्ट इंडिया कंपनी उनका राज हड़प चुकी थी और इसके बदले कंपनी उन्हें आठ लाख रुपए हर साल दिया करती थी। उन दिनों के हिसाब से यह रकम चुकाना कंपनी के लिए बहुत भारी पड़ता था और वे समझते थे कि पेशवा को पुत्र गोद लेने के अधिकार से वंचित करके कंपनी यह रकम बचा सकती है। इसलिए कंपनी ने एलान कर दिया कि नाना साहब बाजीराव के उत्तराधिकारी नही हो सकते। कंपनी ने उन्हें पेशवा मानने से इंकार कर दिया।

1857 की क्रांति का समय आ पहुँचा। नाना साहब के हृदय में अपनी मातृभूमि के लिए अगाध प्रेम था और वे अपने अद्भुत साहस के लिए सुविख्यात थे। कानपुर में जिन सैनिकों ने ब्रिटिश राज के ख़िलाफ विद्रोह का बिगुल बजा दिया था उन्होंने नाना जी से अनुरोध किया कि वे उनके नेता बन जाएँ। नाना साहब तो जैसे इसके लिए तैयार ही बैठे थे। उन्होंने पेशवा के रूप में राजगद्दी सँभाल ली और अपने सिपाहियों को आदेश दिया कि वे ईस्ट इडिया कंपनी के लोगों को शहर से बाहर निकाल भगाएँ।

ईस्ट इंडिया कंपनी के सामने चुनौती आ खड़ी हुई। कंपनी ने एक योग्य सेनापति के अधीन अपनी फौजें इकट्ठी करके उस सेनापति को कानपुर पर धावा बोलने का आदेश दे दिया। लेकिन नाना साहब ने कंपनी की फौजों के हमले को नाकामयाब कर दिखाया। नाना कंपनी की फौजों से दो बरस तक कानपुर में लड़ते रहे। हालांकि अवध और कालपी की लड़ाइयों के दौरान अंग्रेजों ने कानपुर भी जीत लिया था और परिस्थितियाँ हर तरह से नाना के विपरीत थीं, लेकिन इसके वाबजूद उनके उत्साह और साहस मे तनिक भी कमी नहीं आई। देश में अब भी बहुत-से शक्तिशाली राजा-महाराजा थे। अगर इन राजे-रजवाड़ों ने नाना साहब और झाँसी की रानी का साथ दिया होता तो इन लोगो ने भारत के इतिहास का रुख ही बदल दिया होता। लेकिन इन राजे-रजवाड़ों में बहुत-से तो अंग्रेजों के जी-हजूर बन चुके थे। ये लोग तो उलटे इन साहसी नेताओं का विरोध करने पर तुले हुए थे।

नाना साहब अकेले पड़ गए। विवश होकर वे चोरी-छिपे नेपाल चले गए। बहुत समय तक अंग्रेज लोग उन्हें गिरफ्तार करने की कोशिशें करते रहे और नानाजी उनसे बचते हुए इधर-उधर भागते-फिरते रहे। नानाजी ने अपने शत्रुओं को जो अंतिम पत्र लिखा था उसमें उन्होंने साफ-साफ कहा था– "आपको भारत पर जबरन कब्ज़ा बनाए रखने का कोई अधिकार नहीं है और न ही आपको यह अधिकार है कि मुझे कानूनी सुरक्षा से वंचित कर दिया जाए। आपको आखिर भारत पर हकूमत करने का अधिकार किसने दिया

है ? आप लोग तो यहाँ आकर राजा बन बैठे हैं और हम लोग अपने ही देश मे चोरों की तरह जी रहे हैं।''

अपने जासूसों से अंग्रेजों को सूचना मिली कि नाना साहब को जंगलों मे एक चीते ने मार डाला है। लेकिन कंपनी के अधिकारियों को इस बात पर यकीन नहीं आया। उन्हें शक था कि नाना भिखारी के रूप मे यहीं-कहीं भटक रहे हैं।

कंपनी के अधिकारियों ने तमाम भिखारियों और कंगलों को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया। हर अफ़सर हर भिखारी पर शक करता कि वही नाना है। इस तरह हर अफसर अपने आप को नाना को गिरफ्तार कर लेने वाला समझता और वे लोग आपस में होड़ लगाने लगते कि सच्चे नाना को मैंने गिरफ्तार किया है। कंपनी की सरकार को कहीं से यह सूचना मिली कि नाना साहब रूसी फौजों के बलबूते पर भारत पर हमला करनेवाले हैं। बस, फिर क्या था। कंपनी की सरकार में हड़कंप मच गया।

आज तक किसी को यह नहीं पता चल सका है कि जिन जासूसों ने नाना की मृत्यु की सूचना दी थी वह खबर सही थी या गलत। इतिहास के पन्नों में यह बात एक रहस्य बनकर रह गई है। उन दिनों यह भी सुना जाता था कि नेपाल के जंगलों के एक गाँव में नाना की पत्नी अकेली रहा करती थीं। नाना की पत्नी ने विधवाओं की पोशाक कभी नही पहनी। लोगों मे यह धारणा फैली हुई थी कि गाँव में जब कभी कोई उत्सव-त्यौहार हुआ करता था तो नाना चोरी-छिपे दवे पाँव आते और अपनी पत्नी से मिलकर चले जाते।

नाना के किस्से भारत से बाहर भी फैलने लगे थे। बहुत-से अंग्रेज लेखकों ने नाना साहब के बारे में लिखने की कोशिश की है और उन्हें एक दुष्ट व्यक्ति के रूप में दिखाने का प्रयास किया है। ज्यूल्स वर्नेस के किसी उपन्यास में नाना साहब का जिक्र आया है। इसमें बताया गया है कि बहुत समय तक इधर-उधर भटकने के बाद नाना भारत में एक भिखारी की तरह वापस लौटे।

भारत में लोगों का विश्वास है कि नाना साहब ने लंबी उम्र पाई थी। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि वे नाना साहब से मिला भी करते थे।

5
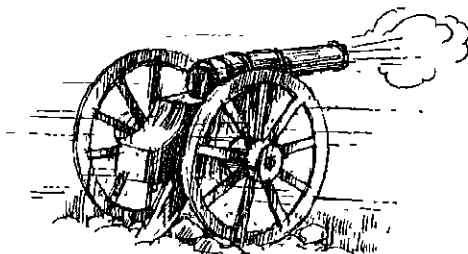
बात सन् 1858 के नवंबर महीने की है। कानपुर के लोग कुछ अंदाज नहीं लगा पा रहे थे कि अंग्रेज सैनिक आख़िर कानपुर की ओर ताबड़तोड़ क्यों बढ़े चले आ रहे हैं। आखिर इन सैनिकों का इरादा क्या है? क्या ये शहर पर कब्ज़ा करना चाहते हैं? लेकिन जीतने के हौसले के साथ जो फौज हमला करती है उसके सिपाहियों के चेहरों पर इतनी मायूसी तो होती नहीं। शहरी जनता इनका मुकाबला भी नहीं कर रही। कहीं किसी तरह की लड़ाई भी नहीं होती दिखाई दे रही। आखिर मामला क्या है? अगर इसे अंग्रेज लोगों की जीत कहा जाए तो वे तो जीत-ही-जीत रहे हैं। फिर इस जीत की खुशी की कोई चमक इनके चेहरों पर क्यों नहीं झलक रही? इन सब सिपाहियों के चेहरे क्यों लटके हुए हैं? शहर के लोग दाँतों तले अँगुली दबाए सब कुछ देखते जा रहे हैं।

इन सब सवालों का आखिर क्या जवाब हो सकता है? – ज़रा सोचिए। ठहरिए, हम ही आपको बताते हैं। बात उन दिनों की है जब कानपुर शहर इतना बड़ा शहर नहीं था जितना कि आज है। शहर की सीमाओं पर खेत और जंगल थे उन दिनों। इन जंगलों में भारतीय विद्रोही छिपे रहते थे। यहाँ से कभी तो तोपगोलों के धाँय-धाँय चलने की आवाज़ें सनसनाती और कभी ज़ोर-ज़ोर के ठहाकों की आवाज़ें। यही कारण था कि अंग्रेज-फौज शहर की ओर भागी चली आ रही थी। दरअसल कानपुर शहर का कब्जा करने का इनका कोई इरादा था भी नहीं। ऐसा लग रहा था जैसे इन्हें कोई पीछे से खदेड़ रहा हो और ये होशोहवास गँवाकर शहर की ओर भागे चले आ रहे हों। भारतीय विद्रोहियोंकी फौजें इन ब्रिटिशसैनिकों के पीछे कई दिनों से पड़ी हुई थी। ये विद्रोही भी अजीब तरह के लोग थे। ये लोग न तो अपनी पूरी ताकत से अंग्रेज फौजों पर हमला ही कर रहे थे और न उन्हें चैन से रहने ही दे रहे थे। अंग्रेज सैनिकों में डर पैदा करने के लिए ये विद्रोही लोग उन पर ठहर-ठहरकर हमला करते थे। विद्रोही लोग कभी-कभार अंग्रेज सैनिको पर गोलियाँ चला देते, कभी उन पर तीर छोड़ने लगते। जब मौका मिलता, वे इन फौजी दस्तों पर झपट भी पड़ते थे।

रात-बिरात इन लोगों की डरावनी चीख़ों की आवाज़ें अंग्रेज सैनिकों को डरा देतीं। बस, इतनी-सी बात थी।

कंपनी की फौज बुरी तरह सहम गई थी। डर के मारे उन्हें लगने लगा था कि अब भलाई इसी में है कि अपने मोर्चों के ठिकानों को छोड़कर कहीं भाग लिया जाए। अपनी-अपनी जान तो सभी को प्यारी होती है। इसलिए ये लोग भी सिर पर पाँव रखकर शहर की ओर भागे चले आ रहे थे। अब भारतीय विद्रोहियों के सामने उचित अवसर था कि ये लोग उन पर हमला बोल दें। अंग्रेज़ी फौज की टुकड़ियाँ अपनी-अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागती फिर रही थीं। ये टुकड़ियाँ कहीं इकट्ठी न हो जाएँ, इसलिए भारतीय विद्रोहियों ने इन पर अपनी तोपों से आग बरसाते गोले छोड़ने शुरू कर दिए। अंग्रेज़ सैनिक करते भी तो क्या करते, युद्ध की खुली चुनौती थी सामने। अंग्रेज़ फौजों की कमान जनरल वाइंधम के हाथों में थी। वाइंधम बहुत कुशल और अनुभवी जनरल था। लेकिन वाइंधम की जनरली और उसकी फौजों की बहादुरी धरी-की-धरी रह गई।

क्या आप जानते हैं कि भारतीय विद्रोहियों की कमान कैसे आदमी के हाथों में थी। न तो यह आदमी किसी लड़ाकू कौम में ही पैदा हुआ था और न ही इस आदमी को कभी युद्ध करने की ट्रेनिंग ही मिली थी। जाति की दृष्टि से इस आदमी का जन्म ब्राह्मण घराने में हुआ था। इस ब्राह्मण का नाम तांत्या टोपे था। टोपे नाना साहब के दरबार में एक मामूली-सा क्लर्क था।

यह 1857 का साल था, अंग्रेज़ सरकार के खिलाफ विद्रोह का साल। तांत्या टोपे की इच्छा-शक्ति बहुत दृढ़ थी। उनके मन में अपनी मातृभूमि के प्रति गहन प्रेम और सम्मान की भावना थी। वे अद्भुत स्वामिभक्त भी थे। उनके मन मे अपने स्वामी के प्रति अटूट निष्ठा थी। चारों ओर विद्रोह का माहौल पहले से था ही। ऐसे समय में तांत्या टोपे के ये गुण अपने आप प्रकट हो उठे। अपने इन्हीं गुणों के कारण तांत्या टोपे एक बहादुर सिपाही और योग्य सेनापति बन सके थे। उनके हाथों में बीस हज़ार सैनिकों की कमान थी। इतनी बड़ी फौज को तांत्या टोपे ने बड़ी कुशलतापूर्वक संगठित कर लिया था। तांत्या टोपे और उनकी फौज़ ने अंग्रेजों के एक बार तो छक्के ही छुड़ा दिए थे – युद्ध में। तांत्या के रणकौशल से प्रभावित होकर अंग्रेज लोग भी एक बार दाँतों तले अँगुली दबा गए। बाद में अंग्रेजों ने भी यह बात स्वीकार की कि तांत्या टोपे एक असाधारण नेता थे।

जब अंग्रेज़ी फौजें शहर में घुस आई तो आप जानते हैं, क्या हुआ? उस दिन शहर में घमासान लड़ाई हुई और यह लड़ाई सारे दिन चलती रही। सूरज छिपने के साथ ही युद्ध भी रुक गया। इस रात एक अंग्रेज़
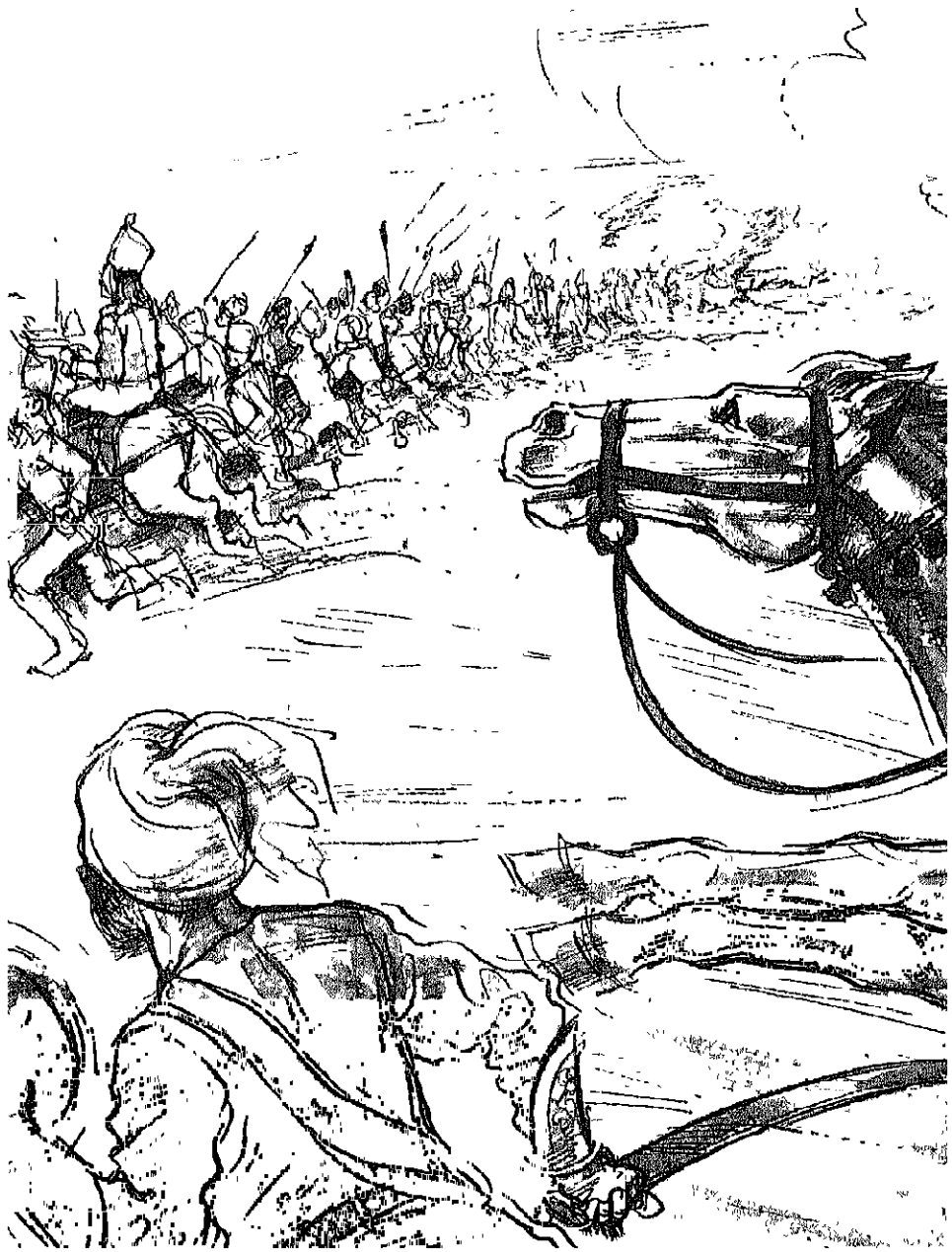
अफसर ने अपने मित्र को लिखा था – आज की लड़ाई जिस तरह लड़ी गई उसके बारे में पढ़कर तुम दंग रह जाओगे। अंग्रेज़ लोग अपनी बहादुरी की बड़ी डींग हाँका करते हैं और दूसरे लोग भी अंग्रेज़ों की बहादुरी की प्रशंसा करते हैं। इन्हें हमेशा यह विश्वास रहता है कि जिस उद्देश्य के लिए ये लड़ रहे हैं वह बहुत महान् है और इसीलिए इन्हें अपनी जीत पर बड़ा भरोसा रहता है। लेकिन आज मैं तुम्हें एक बात बताता हूँ जिस पर तुम शायद भरोसा भी न कर सको। कानपुर के साधारण-से नगरवासियों ने अपने गुप्तचरों की सहायता से हमें इतनी बुरी तरह खदेड़ा है कि हमारा सारा अभिमान चूर-चूर हो गया है। यहाँ के लोगों ने आज हमारी सारी इज्ज़त-प्रतिष्ठा धूल में मिला दी है। हमारे सारे कैंप और सारा साज-सामान आज इन लोगों ने नष्ट कर दिया है। शत्रु लोग हमारी सेना को 'फिरंगी' अर्थात् भगोड़ा कहने लगे हैं। चारों ओर हम फिरंगियों के तंबू उखड़े पड़े हैं। हमारे कैंपों के टूटे-फूटे सामान के अंबार-के-अंबार लग गए हैं। आज तो फिरंगियों में गज़ब की भगदड़ मच गई, भाई। थके-हारे फिरंगी अपने प्राण बचाने के लिए अपने टूटे-फूटे किटों के साथ अपनी-अपनी खाइयों-खंदकों की ओर बेतहाशा भागे चले जा रहे थे। जहाँ देखो, वहीं ऊँट, हाथी और घोड़े-ही-घोड़े नज़र आ रहे थे। आज जो कुछ हुआ है उसके पछतावे के दुख से हमारी छातियाँ धधक उठी हैं। हमारी सारी इज्ज़त धूल में मिल गई है। (चार्ल्स बाल : **इंडियन म्यूटिनी**)

लेकिन टोपे के भाग्य में तो कुछ और ही बदा था। उन्होंने वाइंधम को तो कानपुर में धूल चटा दी लेकिन वाइंधम की करारी हार का बदला लेने के लिए लखनऊ से कौलिन कैंपबेल नामक सेनापति अपनी फौजों के साथ कानपुर इतनी जल्दी आ जाएगा, इसका टोपे को बिल्कुल भी अनुमान नहीं लग पाया था। उन दिनों कौलिन कैंपबेल भारत में अंग्रेज़ सैनिकों का सबसे बड़ा कमांडर था और लखनऊ मे विद्रोहियों को कुचलने में लगा हुआ था। टोपे की धारणा यह थी कि लखनऊ में विद्रोही लोग भीषण युद्ध कर रहे हैं और कैंपबेल को उन्हीं से निबटना भारी पड़ रहा है। हुआ यह था कि कैंपबेल अपने साथी वाइंधम की करारी पिटाई होने से बहुत उत्तेजित हो गया था और उसने अपनी सेनाओं का मुँह कानपुर की ओर मोड़ दिया और देखते-ही-देखते कानपुर आ पहुँचा।

कैंपबेल के सैनिक बहुत मँजे हुए लड़ाकू थे और इन सैनिकों के अफसर भी युद्ध-संचालन में बहुत निपुण थे। अगर टोपे को कानपुर में पाँव जमाने के लिए कुछ समय और मिल गया होता तो वह कैंपबेल को भी मज़ा चखा सकता था। लेकिन भाग्य की बात। अब तो कैंपबेल कानपुर आ ही चुका था।

अब कानपुर टोपे के काबू से बाहर की बात हो गया। टोपे कालपी लौट आए। उन्होंने भारत के सभी

छोटे-बड़े राजाओ और जमींदारों से अपील की– "मेरे स्वामी (नाना साहब) का उद्देश्य है, हिंदू और मुसलमान – दोनो की रक्षा करना। अपने इस महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने जीवन की सारी सुख-सुविधाओं का त्याग कर दिया है। उन्होने पक्का फैसला कर लिया है कि वे शत्रुओं को नेस्त-नाबूद करके ही दम लेंगे। मेरे स्वामी का उद्देश्य आप लोगों के इलाकों पर कब्ज़ा करना नहीं है। उलटे वे तो इस बात के लिए संघर्ष कर रहे है कि आप लोगों के जो इलाके अंग्रेजों ने छीन लिए हैं वे सम्मानपूर्वक आपको वापस करवा दिए जाएँ······किन्तु इस कार्य को मैं पूरा कर सकूँ, इसके लिए मुझे आपके प्रोत्साहन और सहयोग की ज़रूरत है। अगर आप मुझे सहयोग दें तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि भविष्य में हम भारतवासी सुख-शांति से अपना जीवन बिता सकेगे तथा चारों ओर जो अशांति फैली हुई है उसे खत्म करके हम अपने देश में फिर से चैन-अमन का राज्य कायम कर सकेंगे।"

तांत्या टोपे का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था। टोपे की बहादुरी की प्रशंसा करते हुए उन दिनों के एक ब्रिटिश अफसर ने लिखा था – "जब तक कालपी में विद्रोह का बिगुल बजता रहा और कालपी पर शत्रुओं (भारतीयों) का कब्जा बना रहा उस समय तक वहाँ के लोगों को विश्वास हो चला था कि चाहे भारत के पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो गया हो, लेकिन भारत के केंद्रीय स्थान पर तो विद्रोहियों का ही कब्ज़ा रहेगा।"

लेकिन अंग्रेज़ लोग तो तिलमिला रहे थे। वे किसी भी तरह तांत्या टोपे को ख़त्म कर देना चाहते थे। यही हुआ भी। सर कौलिन कैंपबेल के हमले का मुख्य निशाना वे ही बने।

तांत्या टोपे में लोगों के दिलों को जीत लेने की अद्‌भुत शक्ति थी। वे जानते थे कि वे जिस शत्रु से लड़ रहे हैं, वह ताकत में उनसे कहीं ज्यादा है। उनकी सेना के अनेक लोग रोज़ लड़ाई में मारे जाते। लेकिन टोपे रोज़ उतने ही नए सैनिक भरती भी कर लिया करते थे। इसी से आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि वे कितने लोकप्रिय हो गए थे। उन्हें अपने देश की जनता और राजाओं की देशभक्ति पर अटूट भरोसा था।

लेकिन इस दुनिया में पाँचों अँगुलियाँ तो बराबर होती नहीं हैं। उन्हें जितने राजाओं पर अटूट भरोसा था उनमें से कुछ गद्दार भी निकले। एक बार की बात है। शत्रु से दिनभर लड़ते-लड़ते टोपे घायल हो गए थे। वे बुरी तरह थक भी चुके थे। पास में ही नरवर नाम का एक स्थान था। नरवर के राजा टोपे के पुराने मित्र थे। उस रात टोपे उन्हीं के यहाँ रुके। उन्होंने टोपे को धोखा दिया। अब तक नरवर के राजा टोपे की बजाय अंग्रेज़ों के मित्र बन चुके थे। उन्होंने बिना किसी भी तरह की देर किए अपने अंग्रेज़-मित्रों तक यह खबर

पहुँचा दी कि टोपे उनके यहाँ ठहरे हुए हैं।

अंग्रेज़ फौजें देखते-ही-देखते वहाँ पहुँच गईं और उन्होंने टोपे को घर दबोचा। आज वे खुशी से झूम उठे थे क्योंकि उन्होंने आज टोपे को गिरफ्तार करने में सफलता पा ली थी। शत्रु पक्ष जीत गया था। वे टोपे को गिरफ्तार करके सीप्री (शिवपुरी) ले आए। लोगों को दिखाने के लिए वहाँ उन पर एक मुकदमा भी चलाया गया और हलकी-फुलकी जाँच-पड़ताल करके उन्हें फाँसी दे दी गई।

जब टोपे फाँसी के तख़्ते की ओर बढ़ रहे थे तो उनके चेहरे पर किसी तरह का डर अथवा पछतावा नहीं था। मरने से पहले उन्होंने एक बार फिर कहा– "मेरी आत्मा गवाही दे रही है कि मैंने जो कुछ किया, ठीक किया। मेरी लड़ाई अपने अधिकारों को पाने के लिए और न्याय की रक्षा के लिए थी।"

काश ! टोपे के हत्यारों ने उन्हे फाँसी देने के बाद लज्जा और ग्लानि महसूस की हो, कौन जाने!

6
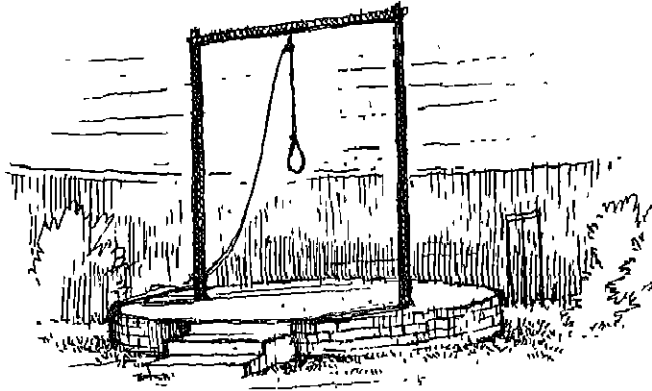
पचहत्तर बरस की उम्र में भी जवानी

''उनकी दाढ़ी पक गई थी, चमड़ी पर झुर्रियाँ उभर आई थीं और शरीर से वे बूढ़े ही दिखाई देते थे। लेकिन उस समय शायद ही ऐसा कोई दूसरा आदमी रहा होगा जिसके दिल और दिमाग में जवानी का वही जोश खलबलाता रहता हो जैसा कि राजा कुमर सिंह में था।''

इस भावना की पंक्तियाँ एक लोकगीत में आती हैं। सचमुच कुमर सिंह (जिन्हें कुँअर सिंह के नाम से भी जाना जाता था) इस पचहत्तर बरस की उम्र में जवान ही तो थे। अगर उनमें जवानी का यह जोश न होता तो सन् 1857 ई. में अंग्रेज़-हुक्मरानों के खिलाफ़ वे युद्ध का बिगुल कैसे बजा देते?

उन दिनों बिहार में जगदीशपुर नाम का एक राज्य था। कुमर सिंह यहीं के राजा थे। उनके पूर्वज लोगों का बहुत पहले से यहाँ शासन चला आ रहा था। लोग कुमर सिंह के खानदान के बारे में कहा करते थे कि ये लोग राजा विक्रमादित्य के वंशज थे। आम लोग उज्जैन के महान राजा विक्रमादित्य के बारे में तो पढ़ ही चुके होंगे।

कुमर सिंह को अपने लड़कपन में जगदीशपुर के पास के जंगलों में आँखमिचौनी खेलने का बहुत शौक था। जब वे जवान हो गए तब भी जंगलों में घूमने-फिरने का उनके मन में बड़ा चाव रहता था। लड़कपन की आँखमिचौनी का खेल अब नकली लड़ाइयों के खेल में बदल गया था। कुमर सिंह की टोली के लोग दो खेमों में बँट जाते और गुरिल्लाओं की छापामार लड़ाई लड़ा करते। खेल-ही-खेल में इन लोगों में नकली मुठभेड़ें हुआ करती थीं और एक टोली के लोग दूसरी टोली के लोगों पर हमला करके एक-दूसरे को गिरफ्तार करने की कोशिशें किया करते।

इस तरह कुमर सिंह के लोगों ने शौक-ही-शौक में गुरिल्ला मुठभेड़ों की ट्रेनिंग प्राप्त कर ली थी। कुमर सिंह के इसी शौक के कारण 1857 ई. के गदर के दिनों में ईस्ट इंडिया कंपनी को भयंकर रूप से

लेने-के-देने पड़ गए थे। कुमर सिंह के पास कोई बड़ी फौज़ तो थी नहीं, थोड़े-से सिपाही लोग ही थे। इन सिपाहियों में भी बहुत-से सिपाही अनाड़ी और अप्रशिक्षित थे। लेकिन इन मुट्ठीभर सिपाहियों ने ही अंग्रेज़ सैनिकों को ऐसी धूल चटाई कि उन्हें छठी का दूध याद आ गया। ये अंग्रेज़ सैनिक जिन कप्तानों के नेतृत्व में लड़ रहे थे, उनके नाम थे – लार्ड मार्क केर और जनरल ली ग्रांड। इनमें लार्ड मार्क केर वही व्यक्ति थे जो क्रीमिया की अपनी मुहिम के कारण बहुत मशहूरी पा चुके थे।

अंग्रेज़ लोगों ने जगदीशपुर पर कब्ज़ा कर लिया था। कुमर सिंह लाचार हो गए क्योंकि उनके पास उस समय अंग्रेज़ों से लड़ने की पूरी तैयारी नहीं थी। वे जगदीशपुर से चुपचाप खिसक गए और अपनी बारी आने का इंतजार करने लगे। कुमर सिंह भी भारत-माँ के सच्चे सपूत थे। उनकी सबसे बड़ी इच्छा यह थी कि अंग्रेज़ों को केवल जगदीशपुर से ही नहीं, बल्कि पूरे देश से खदेड़ भगाना चाहिए। आप नाना साहब के बारे में पढ़ते हुए जान चुके हैं कि उन्होंने एक बार सभी राजाओं से अपील की थी कि वे अंग्रेज़ों के खिलाफ़ लड़ाई में उनकी मदद करें। कुमर सिंह फौरन ही नाना साहब की मदद करने के लिए अपने थोड़े-से सिपाहियों को साथ लेकर कानपुर की ओर लपके। रास्ते में जब उन्हें पता चला कि अंग्रेज़ सैनिक आजमगढ़ की ओर बढ़ रहे हैं तो वे उनका मुकाबला करने के लिए उधर की ओर ही भागे और उनसे टक्कर ली। कुमर सिंह ने कई स्थानों पर लड़ाई छेड़ रखी थी। कुमर सिंह के सैनिकों ने कई बार शत्रु की फौजों पर हमले किए। कई मुठभेड़ों में तो कुमर सिंह साफ-साफ जीत भी गए। कई स्थानों पर कुमर सिंह के सैनिकों ने शत्रु-सैनिकों के छक्के छुड़ा दिए और वे सिर पर पाँव रखकर भाग खड़े हुए। शत्रुओं को बुरी तरह छकाने के बाद ये लोग जगदीशपुर वापस लौटने की सोचने लगे।

अंग्रेज़ लोग इस करारी हार के कड़वे अनुभव को कैसे भूल सकते थे? उन्होने योजना बनाई कि जब ये लोग बेख़बरी में जगदीशपुर लौट रहे हों तभी इन्हें रास्ते में घेर लिया जाए। अंग्रेज़ सैनिक भूखे भेड़िए की तरह इन लोगों का पीछा कर रहे थे, लेकिन कुमर सिंह का बाल भी बाँका नहीं कर पा रहे थे। कुमर सिंह और उनके सिपाही बेधड़क अपने घर की ओर बढ़े चले आ रहे थे। कुमर सिंह के साथ उस समय लगभग एक हज़ार सिपाही थे। इन सिपाहियों के पास जैसे हथियार थे उन्हें बढ़िया किस्म के हथियार तो बिलकुल ही नहीं कहा जा सकता था। कुमर सिंह अपने सफेद पालतू घोड़े पर बैठे सबसे आगे-आगे चल रहे थे। उनके हाथ में नंगी तलवार चमचमा रही थी। वे अपने सिपाहियो के लिए प्रेरणा के अद्भुत स्रोत थे। वे अपने सिपाहियों का नेतृत्व इतनी कुशलता से कर रहे थे कि अपने से बढ़िया तरीके से सुसज्जित अंग्रेज़ फौज को भी उन्होंने कई बार धूल चटा दी थी।

एक बार की बात है। दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हो रहा था। शत्रु की ओर से एक गोली दनदनाती हुई आई और कुमर सिंह के दाएँ हाथ की कलाई को छेदते हुए निकल गई। उनका हाथ पक चला और उसमें जहर फैलना शुरू हो गया। शीघ्र ही यह पता चल गया कि यदि उनके हाथ को पूरी तरह काट नहीं दिया गया तो ज़हर का असर सारे शरीर में फैल जाएगा और इससे उनकी मृत्यु भी हो सकती है।

समय बहुत कम था। आस-पास कहीं कोई डाक्टर भी नहीं था जिसे कुमर सिंह की सहायता के लिए बुलाया जा सके। अब कुमर सिंह की दिलावरी देखिए। वे स्वयं गंगा के किनारे जा खड़े हुए और बोले – "हे गंगा मैया!' लो, अपने बेटे की यह छोटी-सी भेंट स्वीकार करो।" यह कहते हुए उन्होंने खुद अपने बाएँ हाथ से अपनी दाहिनी बाजू पर तलवार का भरपूर वार किया। बाँह कटकर गिर पड़ी। उन्होंने इस कटी बाँह को गंगा मैया को चढ़ा दिया।

यह विचित्र आपरेशन उन्होंने अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति के बल पर स्वयं कर लिया था। यदि उनकी उम्र कुछ कम रही होती तो शायद उनका घाव जल्दी भरजाता और वे बच जाते। लेकिन अब तो वे काफी बूढ़े हो गए थे। इस पर वे दो साल से लगातार शत्रुओं से लड़ रहे थे। अब उनके शरीर में और ताकत नहीं बची थी। दूसरे ही दिन 24 अप्रैल 1858 को उनका देहावसान हो गया।

लेकिन जगदीशपुर अंग्रेज़ों के हाथ से निकल चुका था क्योंकि अब कुमर सिंह के छोटे भाई अमर सिंह ने उनके खिलाफ तलवार उठा ली थी। अमर सिंह भी अपनी पूरी ताकत से अंत तक अंग्रेज़ों से लड़ते रहे। लेकिन आप जानते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। नतीजा वही हुआ। अंत में उनके किले को भी अंग्रेज़ों ने जीत लिया।

अमर सिंह बच तो गए लेकिन उनके अंतिम दिन कैसे और कहाँ बीते, इस बारे में इतिहास मौन है।

7

[illegible]
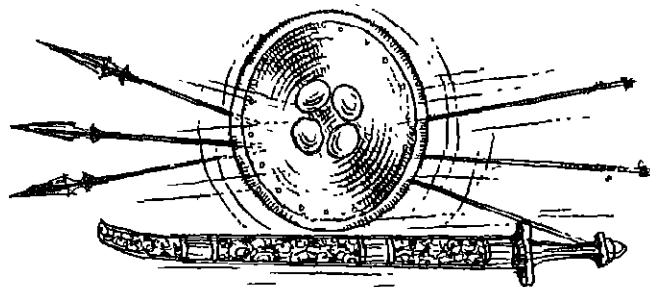
न्यूयार्क में एक 'सिटी हाल' पार्क है। इस पार्क में एक प्रतिमा बनी हुई है। यह प्रतिमा नाथन हेल की है। नाथन ने अपनी किशोरावस्था में ही अमरीका के स्वतंत्रता संग्राम में स्वयं को बलि चढ़ा दिया था। उसी की याद में यह प्रतिमा वहाँ लगाई गई है।

उन दिनों अमरीकन लोग भी आजादी पाने के लिए जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में अंग्रेज़ों से लड़ रहे थे। अमरीका में शत्रु सैनिकों के बहुत सारे कैंप लगे हुए थे। ये लोग अपने-अपने कैंपों में अगले दिन के युद्ध की योजनाएँ बनाया करते थे। वाशिंगटन के लिए यह बहुत जरूरी हो गया था कि वे किसी भी तरह इन योजनाओं के बारे में पहले से जानकारी प्राप्त कर लिया करें ताकि वे भी बचाव और जवाबी हमले की तैयारियाँ कर सकें। काम बहुत जोख़िम का था। जासूसी करने के लिए शत्रु के कैंप में कौन जाता? ऐसी हालत में नाथन हेल ने हिम्मत की। वह जानता था कि यदि वह जासूसी करता हुआ पकड़ लिया गया तो मारा जाएगा। लेकिन इधर देश की आजादी का सवाल था। यह सवाल एक जिंदगी से कहीं ज्यादा बड़ा सवाल था। सो, नाथन ने हिम्मत की। वह शत्रु-कैंप में चोरी-छिपे किसी तरह घुस गया, लेकिन उसे पकड़ लिया गया और सूली पर लटका दिया गया।

फाँसी पर झूलने से एक मिनट पहले उसने एक बयान दिया था। जल्लाद ने व्यंग्यपूर्वक उससे पूछा– 'तुम इतने फुर्तीले नौजवान हो, अगर अपने बारे में कुछ कहना चाहते हो तो कहो।' नाथन हेल इस समय बहुत शांत और गम्भीर था।

क्या आप जानते हैं कि अपनी अंतिम साँसें लेते हुए उसने क्या कहा? उसने कहा– 'मुझे इस बात का दुख है कि अपने देश को देने के लिए मुझे केवल एक ही जीवन क्यों मिला?'

जब अमरीका के स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों ने नाथन हेल का यह बयान पढ़ा तो अंग्रेज़ों से आज़ादी पाने के लिए उनका भी खून खौलने लगा।

इसी तरह का एक नाथन हेल भारत में भी हुआ। उसका नाम मुहम्मद अली खाँ था। कानपुर और लखनऊ के बीच किसी स्थान पर उसे भी पेड़ पर लटकाकर फाँसी दे दी गई थी। जब उसे फाँसी दी जा रही थी तो बात करने के लिए ज़ल्लाद के अलावा उसके निकट एक अंग्रेज़ आदमी भी मौजूद था। उस अंग्रेज़ का नाम था– फार्ब्स मिशेल। ज़ल्लाद तो ज़ल्लाद ही था, लेकिन फार्ब्स मिशेल नेक और दयालु सज्जन था। अली खाँ की फाँसी से पहले की रात फार्ब्स मिशेल के साथ ही बीती थी।

फार्ब्स मिशेल एक लेखक भी था। उस रात अली खाँ ने अपने दोस्त मिशेल को अपनी अंगूठी उपहार के रूप में दी थी। उस रात मिशेल उसके साथ उसके रक्षक के रूप में रहा था। मिशेल ने बाद में लिखा भी था– "वह अंगूठी मेरे पास अब भी है। गदर में जो तबाही मची थी, उसकी अब सिर्फ यही एक निशानी मेरे पास बची है। मैं मुहम्मद अली खाँ के इतिहास (यादगारों) के साथ-साथ यह अंगूठी भी अपने बच्चों को सौंप जाऊँगा।" कौन जानता है, यह अंगूठी मिशेल के नाती-पोतों के पास अब भी हो? (**द रिलीफ आफ लखनऊ** : विलियम फार्ब्स मिशेल)

फार्ब्स मिशेल तिरानवेवीं सदर्नलैंड हाई लैंडर्स नाम की रेजीमेंट में एक अधिकारी था। यह रेजीमेंट कानपुर की बाहरी सीमा पर पड़ाव डाले हुए थी। उस पड़ाव के अहाते में जैमी ग्रीन नाम का एक आदमी आया-जाया करता था। वह आलूबुखारे के केक बेचा करता था और रेजीमेंट के सिपाही उससे खूब घुल-मिल चले थे। वह खूबसूरत भी बहुत था। उसकी पोशाक से लगता था जैसे वह उसके शरीर से ही निकली हो। वह अपनी मूँछों और गलमुच्छों को भी बड़ा सँवार कर रखता था। अंग्रेज़ी तो जैसे उसकी जुबान से बही-सी पड़ती थी, बहुत धारा-प्रवाह अंग्रेज़ी बोल लेता था वह। सिपाही लोग मानने लगे थे कि वह वाक़ई बहुत बुद्धिमान है। वे उससे केक खरीदते और चटकारे ले-लेकर खाते। उनकी इस बात पर निगाह ही नहीं गई कि इतना पढ़ा-लिखा आदमी केक बेच-बेचकर अपना पेट क्यों पालता है? अगर कोई यह सवाल उठाता भी तो 'जैमी ग्रीन' इतना चतुर था कि उसके पास हर सवाल का जवाब मौज़ूद रहता था।

किसी समय जैमी ग्रीन उन लोगों के साथ था जिन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उसने एक भारतीय जासूस के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी इकट्ठी की थीं। लेकिन बाद में जैमी की

उन लोगो से नहीं पटी और अब वह कंपनी के कैंपों में केक बेचने लगा।

एक बार की बात है। एक सिपाही ने जैमी का केक तो खा लिया लेकिन पैसे देने में आनाकानी करने लगा। जैमी बोला– "भाई, मज़ाक मज़ाक होती है। लेकिन तुम जो मज़ाक कर रहे हो वह तो बड़ी भारी मज़ाक है क्योंकि तुम मेरे आलूबुखारे के केक तो खा चुके हो और अब पैसे देने से मुकर रहे हो।"

जैमी ग्रीन की इस बात से हँसी के ठहाके लग उठे। जैमी रोज़-ब-रोज़ लोकप्रिय होता जा रहा था। हुआ यह कि इन सैनिकों में एक जासूस भी था, जिसने 'जैमी' को पहचान लिया और उससे विश्वासघात करते हुए यह बात अपने ब्रिगेडियर मेजर को भी बता दी। अधिकारी लोग डर के मारे सहमे रह गए जब उन्हें पता चला कि जैमी जैमी नहीं, वह तो मुहम्मद अली खाँ था जो रुहेलखंड के शाही परिवार का था। वह एक पढ़ा-लिखा इंजीनियर था जो दो बार इंग्लैंड रह आया था। पहली बार नेपाल के हिज़ हाईनैस जंग बहादुर के सैक्रेट्री के रूप में वह इंग्लैंड गया था और दूसरी बार नाना साहब के दूत के रूप में। यदि उसे कोई न पहचान पाता तो उसने हाई लैंडर्स की योजना की जो सूचनाएँ एकत्रित कर ली थीं,उनसे विद्रोहियों को बहुत लाभ मिलता।

ब्रिगेडियर मेजर के हुक्म से उस पर कुछ सिपाही टूट पड़े और उसे धर दबोचा। उस रात के लिए उसे फार्ब्स मिशेल की देख-रेख में छोड़ दिया गया।

वे सिपाही लोग, जो उसके चुटकुलों और मज़ेदार बातों को बड़े चटखारे ले-लेकर सुना करते थे, अब उस पर फब्तियाँ कसने लगे। फब्तियाँ कसने का उत्साह उनमें अपराध करने की सीमा तक बढ़ गया था। वह कहीं से सूअर का मांस ले आए। इससे पहले कि वे उसकी हत्या करते, उनकी इच्छा थी कि वे उसे सूअर का मांस खिलाकर उसकी धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाएँ। लेकिन फार्ब्स मिशेल ने इन दुष्ट सिपाहियों को उसके साथ इतना दुर्व्यवहार नहीं करने दिया। पास में ही एक भोजनालय था। मिशेल ने अली खाँ के लिए वहाँ से खाना मँगवाया और उसके साथ बैठकर उसे खिलाया। वे सारी रात साथ-साथ बैठे रहे और जागते रहे। मिशेल की यह हमदर्दी दो कारणों से थी। एक तो वह यह चाहता था कि अली खाँ के साथ ऐसा कुछ बर्ताव न किया जाए जिससे वह भागने की सोचने लगे। दूसरे, वह उससे प्रभावित भी हो गया था।

फार्ब्स ने उन बातों को लिखा है जो उन दोनों में उस रात हुई थीं। इन आलेखों से पता चलता है कि मुहम्मद सिर्फ एक देशभक्त और आदर्शवादी व्यक्ति ही नहीं था, बल्कि बहुत साहसी और सज्जन भी था। उसे

पता चल चुका था कि अब कुछ ही घंटों बाद उसे मर जाना है। लेकिन उसे इसका कोई पछतावा नहीं था। उसने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपनी जान की बाज़ी लगा दी थी। उसने एक बार कहा भी था– "हालाँकि हम अपने देश को अंग्रेज़ी हकूमत से आज़ाद करा पाने में असफल रहे हैं लेकिन मुझे यकीन है कि हम कुछ अच्छा भी कर सके हैं। जितने आदमियों ने अपना बलिदान दिया है, वह व्यर्थ नहीं जाएगा। अब भी मेरे देश के शोषित और दलित भाइयों के सामने उज्जवल भविष्य की संभावनाएँ हैं, लेकिन अब उनका भविष्य देखने के लिए मैं जीवित नहीं बच पाऊँगा।"

दूसरे अंग्रेज़ों की तरह फार्ब्स मिशेल के मन में भी भारत के बारे में बहुत-सी गलतफहमियाँ पैदा हो गई थीं। मुहम्मद अली खाँ ने उस रात मिशेल की सारी गलतफहमियाँ दूर कर दीं। मिशेल ने उससे पूछा– "यदि गदर मचानेवालों ने किसी यूरोपियन महिला का अपमान किया हो तो `` ?" मुहम्मद अली ने उत्तर दिया– "आप इस देश में एक अजनबी हैं इसीलिए ऐसा सवाल पूछ रहे हैं। जो कोई भी इस देश के रीति-रिवाज़ों के बारे में थोड़ा भी जानता है,वह समझता है कि इस तरह की कहानियाँ झूठी होती हैं जो इसलिए गढ़ी जाती हैं ताकि भारतीयों और अंग्रेज़ों में मनमुटाव बढ़े, खासतौर से ऐसी हालत में, जबकि पहले से ही दोनों ओर के लोगों में मनमुटाव पैदा हो चुका है।"

उसने फार्ब्स के मन में यह भी बैठा दिया कि अंग्रेज़ लोग वाकई में उतने शूरवीर लोग नहीं है जितना कि वे अपने आपको विद्रोहियो को कुचलते समय दिखाने की कोशिश करते हैं। उनकी शूरवीरता की कहानियाँ भी इतनी सच नहीं हैं जितनी कि प्रचलित हैं।

पौ फटी। मुहम्मद अली खाँ ने अल्लाह की इबादत की और फार्ब्स मिशेल को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। फार्ब्स ने लिखा है– "इस आदमी में एक बार ``` सिर्फ एक बार कुछ दुर्बलता दिखाई दी थी। रुहेलखण्ड में उसके घर में उसकी पत्नी और दो बेटे थे। उन्हें याद करते हुए वह एक बार बुदबुदाया था– "वे लोग कभी नहीं जान पाएँगे कि उनके दुर्भाग्यशाली पिता का क्या हुआ?" लेकिन साथ ही उसने यह कहते हुए खुद पर काबू भी पा लिया था कि मैंने फ्रांस और इंग्लैंड का इतिहास पढ़ा है। इस समय मुझे दाँतों की तरह होना चाहिए और किसी तरह की कोई कमज़ोरी नहीं दिखानी चाहिए।

जल्दी ही कुछ सिपाही अपने इस बंदी को लेने आ पहुँचे और उसे कहीं ले गए। कुछ देर बाद फार्ब्स मिशेल को लखनऊ जाना था। जब वे जा रहे थे तो रास्ते में उन्होंने देखा कि उनके रात के मेहमान की लाश एक पेड़ पर झूल रही है। फार्ब्स ठंडी आहें भरता हुआ आगे बढ़ गया।

8

जब यह स्पष्ट हो गया कि 1857 के महान विप्लव का अंत हो रहा है और इसके नेता या तो मारे जा चुके हैं अथवा छिप गए हैं तो ईस्ट इंडिया कंपनी की फौज और उसके अधिकारी भारतीयों के प्रति अपने व्यवहार में निर्दयी हो उठे। उन्होंने हजारों निर्दोष पुरुषों और स्त्रियों को मौत के घाट उतार दिया। उनका विचार था कि ऐसा करके वे भारतीय जनता को उस सीमा तक आतंकित कर देगे कि वह बाद में कभी भी उनके विरुद्ध विद्रोह करने की जुर्रत ही न कर सके।

कई अंग्रेज़ों ने स्वयं ही कम्पनी की फौजों की क्रूरता के कई वृतांत लिखे हैं। इनमें लन्दन के "द टाइम्स" के विशेष संवाददाता विलियम हॉवर्ड प्रमुख हैं।

एक स्थान पर एक दर्जन लोगों को सिर्फ इसलिए मौत के घाट उतार दिया गया क्योंकि "उनके चेहरे गलत दिशा की ओर फिरे हुए थे।" जब एक रेजीमेंट विजय-मार्च करते हुए इन लोगों तक पहुँची तो ये लोग दूसरी ओर देख रहे थे।

एक छोटा लड़का जो कि किसी अंधे को ले जा रहा था, कम्पनी के अफसर के पैरों में गिर पड़ा। इस अफसर ने तत्काल "अपना रिवाल्वर निकाल लिया और उस अभागे दीन-याचक की कनपटी पर सटा दिया।" किसी तरह रिवाल्वर चल नहीं पाई। "उसने दोबारा रिवाल्वर का घोड़ा दबाया, लेकिन इस बार फिर रिवाल्वर चल के नहीं दी। उसे अपनी निष्ठुरता छोड़ने के तीन अवसर मिल चुके थे, लेकिन फिर भी उसने चौथी बार घोड़ा दबाया। इस बार वह सूरमा अफसर सफल हो गया और लड़के का खून उसके पैरों में बहने लगा.....।"

एक बार कुछ कुली दीवार की छाया में विश्राम कर रहे थे। अचानक उन्होंने देखा कि एक अंग्रेज नौजवान

कुलाँचें भरता और दहाड़ता हुआ उसी ओर बढ़ा आ रहा है। उसकी आँखों से आग बरस रही थी, जानवर की गर्दन के बालों से बने लंबे पाश उसके मोटे हेलमेट के नीचे झूल रहे थे और उसके हाथ में एक बड़ी छड़ी भी थी।

वह कुलियों पर से होकर दौड़ता हुआ गुज़र गया और वे लोग, जैसे कि मानो वे घास हों, अपंग बने अपना खून देखते रहे।

ये "विजेताओं" के व्यवहार के कुछ नमूने हैं। पराजित लोग कैसा व्यवहार करते थे? क्या सभी लोग भयाक्रांत हो गए थे? आइए, फार्ब्स मिशेल द्वारा छोड़े गए एक रिकार्ड पर नज़र डालें।

लखनऊ के पास एक बाग की घटना है। इस दिन फार्ब्स मिशेल की रेजीमेंट ने दो हजार लोग मारे थे। सैनिक लोग थक गए थे। सूरज तप रहा था और ये लोग प्यासे थे।

सैनिक लोग बाग में विश्राम करने आए। संभवतः वे लोग अपने खूनी हाथ भी बाग में धोना चाहते थे। बाग के एक कोने में पीपल का पेड़ था। पेड़ के नीचे कुछ बर्तन रखे थे।

सैनिकों ने सोचा कि उन बर्तनों में पानी होगा। कुछ लोग उन बर्तनों की ओर भागे और बैठ गए।

लेकिन वे उठे नहीं। न जाने किस दिशा से गोलियाँ आ रही थीं। वे मरने लगे।

किंकर्तव्य-विमूढ़ कप्तान ने अंत में एक सैनिक से कहा कि वह पेड़ की झुरझुरी चोटी पर जाकर खोज-ख़बर ले। उसने शत्रु ढूँढ़ लिया। उसने शत्रु पर निशाना साधा और गोलियाँ बरसाने लगा।

अचानक एक शरीर नीचे आ गिरा। उसके बदन पर उसके शरीर की नाप के अनुसार एक लाल जैकेट थी जो उसने कसकर पहन रखी थी। उसने गुलाबी रंग के सिल्क का पाजामा भी पहन रखा था।

"यह एक नवयुवती थी। वह मर चुकी थी। उसके पास पुराने ढंग की एक भारी पिस्तौल थी जो घुड़सवार सेना की थी। एक भरी हुई पिस्तौल अब भी उसकी पेटी में बँधी थी। उसने हमला करने से पहले पेड़ पर बैठने योग्य एक मोर्चे जैसा स्थान बड़ी सावधानी से बना रखा था। उसने आधे दर्जन से अधिक आदमी मार डाले।"

शायद हमें यह कभी पता नहीं चल सकेगा कि यह स्त्री कौन थी? जैसा उसका वर्णन हमें मिलता है, उससे
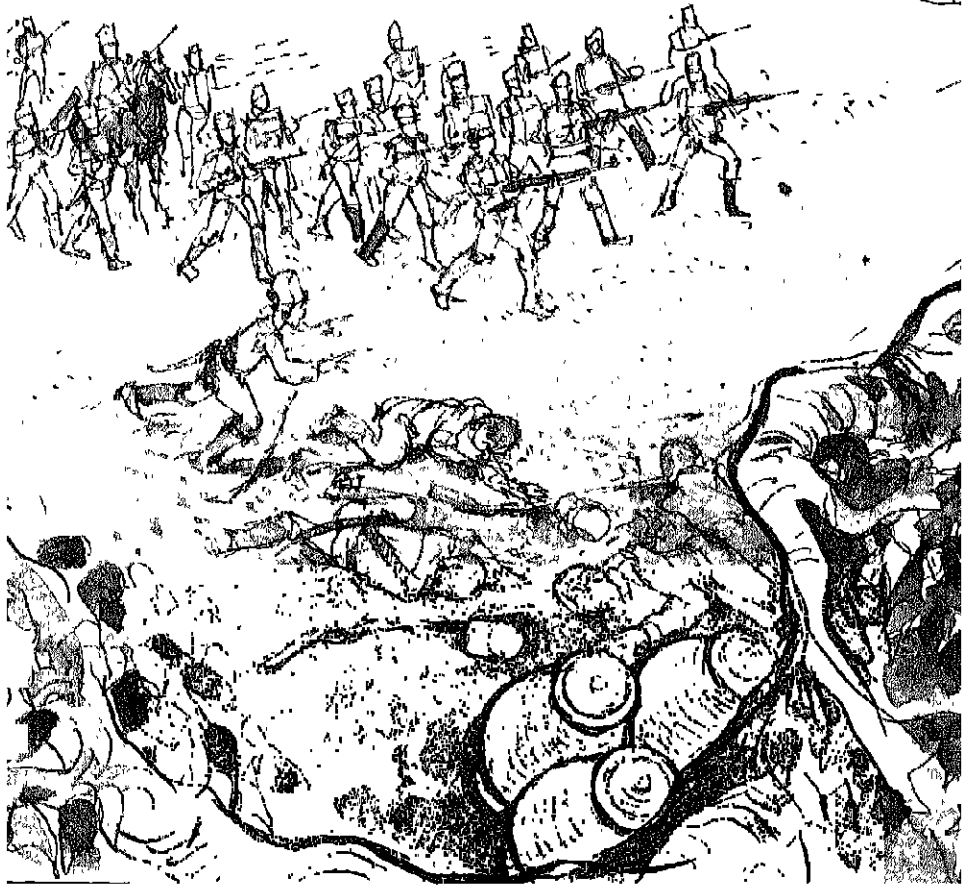
पता चलता है कि वह किसी कुलीन घराने की स्त्री थी। उसकी अपनी मातृभूमि के साथ और सम्भवतः उसके अपने परिवार के साथ भी जो अन्याय हुआ था, वह उस अन्याय का अपनी पूरी ताकत से बदला लेना चाहती थी।

लेकिन वह तो अनेक लोगों में से एक थी जिन्होंने अपने साहस की शानदार मिसालें कायम की थीं। जैसा कि चार्ल्स बैल ने "इंडियन म्यूटिनी" में लिखा है– "इस मचान पर एक के बाद एक करके स्थानीय लोगों की अनेक टोलियाँ चढ़ती रहीं। कुछ क्रांतिकारियों ने मौत के अपने सामने आ उपस्थित होने पर भी अपने मन को जिस तरह शांत रखा और अपने आचरण-व्यवहार में जो शालीनता प्रदर्शित की, उससे उन्हें वही यश मिला जो कि उन शहीदों को मिलता है जो किसी खास मकसद के लिए अपना जीवन कुर्बान कर देते हैं।

9
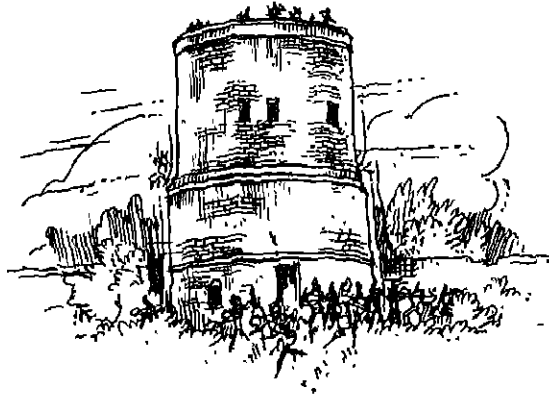
बाघा जतिन की बहादुरी के किस्से

सन् 1906 ई० की बात है। अप्रैल का महीना था। बंगाल में नदिया नाम का एक जिला है। इस जिले में एक गाँव है – कोया। कोया गाँव से होकर एक नदी बहती है– गोदुई। चारों ओर गहरा सन्नाटा। इस सन्नाटे को छेदती हुई एक विचित्र चीख लोगों ने सुनी। पास ही दलदली भूमि थी जहाँ झाड़ियाँ उगी हुई थीं। इन्हीं झाड़ियों में से कहीं से चीख की आवाजें आ रही थीं। गाँव के लोग उधर की ओर ही भागे।

जो कुछ उन्होंने वहाँ देखा उसे देखकर उनके रोंगटे खड़े हो गए। ऐसा आश्चर्य उन्होंने अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था। उन्होंने देखा कि नौ फुट लम्बे एक चीते से एक युवक जूझ रहा है। बाघ के सामने वह युवक निहत्था था। उसके पास बस एक चाकू था।

चीते की और उस लड़के की यह गुत्थमगुत्था लगभग बीस मिनट तक चलती रही। कभी युवक चीते के ऊपर तो कभी चीता युवक के ऊपर। सूर्य उग रहा था, नदी के पास आकाश में लालिमा छाती जा रही थी। इधर ढलता हुआ अंधेरा और आकाश की लाली, उधर बहते हुए खून का चकमदार लाल रंग दोनों एक जैसे लग रहे रहे थे।

लड़ते-लड़ते लड़ाई का जैसे छोर आ गया था। युवक और चीता – दोनों आपस में एक दूसरे से भिड़े हुए थे। गाँववालों ने अचानक देखा कि उन दोनों की जमीन पर लोट-पोट हो रही है। देखते-देखते युवक उठ खड़ा हुआ। उसकी निर्वस्त्र छाती पर चीते के नाखूनों से घाव हो गए थे जिनसे खून बह रहा था। ऐसा लगता था मानो उसने लाल फूलों का हार पहन रखा है। उसके चेहरे पर विजय की मुस्कान खिलखिला रही थी।

मरे हुए उस चीते को और उस घायल युवक को तत्काल कलकत्ता ले जाया गया। डाक्टरों का कहना था

कि उस युवक का जीवन बचाने के लिए उसकी दाईं टाँग काटनी ही पड़ेगी। लेकिन उस युवक ने मना कर दिया। वह चाहता था कि वह स्वस्थ और सांगोपांग रहे। हालाँकि उसने एक चीता मार डाला था, लेकिन अभी तो उसे शेर से (अंग्रेज़ों से) लड़ना था।

जिस आश्चर्यजनक तरीके से उस युवक के स्वास्थ्य में सुधार हुआ, उसे देखकर डाक्टर भी दंग रह गए। इस युवक के सर्जन का नाम सुरेश सर्वाधिकारी था। उन्होंने इस घटना का बड़ा दिलचस्प किस्सा लिखा है। उन्होंने लिखा है कि केवल अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति के सहारे ही इस युवक के इतने भयंकर घाव भर सके और वह चंगा हो सका।

इस युवक की उम्र अभी लगभग सत्ताइस साल ही थी। एक चीता मार लेने के कारण इस युवक के नाम के साथ "बाघा" शब्द जुड़ गया।

जतिन 5 दिसम्बर 1879 ई० के दिन पैदा हुआ था। अभी वह पाँच वर्ष का भी नहीं हो पाया होगा कि उसके पिता श्री उमेश चन्द्र का देहांत हो गया। इसके बाद उसकी माँ भी चल बसीं। जतिन के एक मामा थे। उनके घर में उनकी एक विधवा बहन रहती थी–विनोद बाला। विनोद बाला ने ही जतिन को पाला-पोसा। अपनी तेरह साल से उन्नीस साल की उम्र के बीच जतिन ने व्यायाम करना, घुड़सवारी करना तथा लाठी और तलवार चलाना सीख लिया था।

एक बार कलकत्ता के गोरे बाजार में खड़ा जतिन एक रोमांचकारी दृश्य देख रहा था। एक अंग्रेज बाज़ार में खड़ा भारतीयों पर कोड़े बरसाता जा रहा था। कोई लोफर हो या प्रोफेसर, स्त्री हो या बच्चा – हर भारतीय पर कोड़े फटकारते हुए वह गिने जा रहा था – "लो, ये पैंतालीस, ये छियालीस"।

जतिन कुछ देर तो सब देखता रहा लेकिन जब उससे और अधिक न देखा गया तो वह उस मसखरे अंग्रेज पर अपनी पूरी ताकत से पिल पड़ा। जतिन ने एक झटके में उसका कोड़ा छीन लिया और उसे उठाकर धरती पर दे मारा।

"और ये लो ····· उनचास।" अब कोड़ा जतिन का था और पीठ उस गोरे साहब की। जतिन कोड़े बरसाए जा रहा था।

ऐसी अनेक घटनाएँ जतिन के विद्यार्थी जीवन में घटीं। जतिन के मन ने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि भारतीय लोग किसी गोरी चमड़ीवाले साहब के सेवक हैं, हालाँकि उन दिनों लोग ऐसा ही समझते थे। बाद

में जतिन बंगाल के राज्यपाल के सैक्रेट्री का स्टेनोग्राफर भी बन गया लेकिन उसके मन में गुलामी की भावना कभी नहीं आई। इसके विपरीत जतिन को जब भी कहीं कोई मौका मिलता, वह अंग्रेजों को बुरी-भली सुनाया करता और कभी-कभी तो उन्हे नीचा दिखाने तक को उतारू हो जाता।

कोया गाँव में जो गोदुई नदी बहती थी, उस पर एक पुल बनाया जा रहा था। जतिन की याददाश्त पर सबसे पहला दुखद प्रभाव इस नदी पर बने "खूनी पुल के हादसे" का पड़ा। यह घटना जतिन के जन्म से दस साल पहले ही घट चुकी थी। इस पुल को बनाने के लिए सैकड़ों लोग काम पर लगे हुए थे। ये लोग बड़ी मेहनत से अपना काम कर रहे थे। अचानक नदी में बाढ़ आ गई और अपने आप को बचाने के लिए इन कामगार लोगों को कुछ पीछे हटना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि काम संतोषपूर्ण ढंग से आगे नहीं बढ़ पा रहा था।

साहब लोग इन कामगारों को धमकाते हुए चीख उठे– "खबरदार! अगर पीछे हटे तो मार दिए जाओगे।" नदी में बाढ़ के पानी का रेला दुबारा आया और इन लोगों को फिर पीछे हटना पड़ा। अब क्या था, इन लोगो पर गोलियाँ बरसने लगीं। इस दुर्घटना में दस-बारह लोग मारे गए। जतिन ने अपने बचपन मे यह घटना सुनी थी।

जतिन के मन में अपने उन भारतीय भाइयों के प्रति एक गहरे किस्म का लगाव और प्यार पैदा हो गया जो सदा गूँगे रहते हैं और सब कुछ चुपचाप सहन कर लेते हैं। स्थानीय लोगों के मन पर गोरे साहबों के भय का भूत सवार रहता था। जतिन को जब भी मौका मिलता, वह उनके डर को दूर करने की पूरी कोशिश करता। जब वह डर के मारे सहमे हुए इन लोगों की हिम्मत बँधाता था तो उनके मन में किसी के प्रति भय और घृणा जैसी कोई भावना मौजूद नहीं रहती थी। जतिन के सभी साथियों ने यह स्वीकार किया है। वह अपना काम बड़े आनंद से अजर निर्लिप्तता की भावना से करता था। इससे पता चलता है कि उसके मन की गहराइयों में कितना संतुलन बना रहता था। एक क्रांतिकारी डा० जदुगोपाल मुकर्जी ने उसके बारे में लिखा है – कोई कायर से कायर आदमी भी उसके संपर्क में आकर अपने आप को "हीरो समझने लगता था।"

सन् 1905 ई० में वेल्स के राजकुमार कलकत्ता से गुज़र रहे थे। सड़क की दोनों पटरियों पर हजारों आदमियों-औरतों की भीड़ जमा थी। सड़क के एक किनारे एक बग्घी खड़ी हुई थी जिसमें कुछ महिलाएँ बैठी हुई थीं। जतिन ने देखा कि अचानक छह अंग्रेज इस बग्घी की छत पर उछलकर बैठ गए। अंग्रेज

लोग राजकुमार की सवारी तो अच्छी तरह देखना ही चाहते थे, साथ ही उनके मन में इन स्त्रियों से कुछ मखौलबाज़ी करने की इच्छा भी थी। वे खुशी के मारे सीटियाँ बजा रहे थे और उनके बूट-चढ़े पैर महिलाओ के चेहरों के सामने झूल रहे थे। हालाँकि इन महिलाओं के साथ उनके अंगरक्षक भी थे, लेकिन वे भी ये सब टुकुर-टुकुर देख रहे थे।

आग की लपटों के एक झोंके की तरह जतिन बग्घी पर टूट पड़ा। पलक झपकते ही लोगों ने देखा कि बग्घी की छत पर बैठे सब मनचले अंग्रेज धरती पर धूल चाटते नज़र आ रहे हैं। उन्होंने जतिन को पकड़कर पीटने की कोशिश की जरूर, लेकिन उनकी सब कोशिशें बेकार गईं। बार-बार अपना अपमान होते देख ये लोग भीड़ में कहीं चुपचाप खिसक गए।

इसके दो साल बाद की एक अन्य घटना है। जतिन रानाघाट जा रहा था। उन दिनों रेलगाड़ी में तीसरे दर्जे के दो डिब्बों को जोड़ने के लिए बीच में मोटी-मोटी लोहे की छड़ें लगी रहती थीं। जतिन के डिब्बे के साथ जुड़े डिब्बे में एक बूढ़े महाशय अपनी पुत्री के साथ यात्रा कर रहे थे। दो अंग्रेज भी उस डिब्बे में आ चढ़े। हालाँकि आधा डिब्बा खाली था, लेकिन वे दोनों उस लड़की के आस-पास सटकर बैठ गए और उसे भींचने की कोशिश करने लगे। बूढ़े महाशय ने उनसे प्रार्थना की कि वे शिष्टापूर्वक बैठे लेकिन उनकी प्रार्थना को उन्होंने जैसे सुना ही नहीं। बूढ़े महाशय दूसरे लोगों से अनुरोध करने लगे कि वे आकर उनकी रक्षा करें। लेकिन डिब्बे के सभी लोगों को जैसे साँप सूँघ गया था। वे चुपचाप बैठे रहे मानो उन्होंने शासक-जाति के लोगों को अपने से दुर्व्यवहार करने का अधिकार दे रखा हो।

जतिन अपने डिब्बे से दहाड़ उठा। उसकी दहाड़ सुनकर दोनों बदतमीज़ लोग कुछ चकराए तो अवश्य, लेकिन उन्होंने उसे भी अनसुना कर दिया।

देखते-देखते बाघ उठ खड़ा हुआ और उसने लोहे की छड़ों को खींचकर अलग-अलग कर दिया। वह लपककर दूसरे डिब्बे में जा पहुँचा और उन लोगों पर मुक्के बरसाने लगा। जतिन द्वारा खूब पिटाई से दोनों फर्श पर पड़े धूल चाटने लगे। जतिन ने उन दोनों को अपने पैरों के नीचे तब तक दबाए रखा जब तक उन्होंने लड़की और उसके पिता से क्षमा नहीं माँग ली। इसी तरह जतिन की अंग्रेजों से अंतिम मुठभेड़ तब हुई जब वह दार्जिलिंग जा रहा था। जिस गाड़ी में जतिन यात्रा कर रहा था, उसी में ब्रिटिश-फौज की एक टुकड़ी भी सफर कर रही थी। इस टुकड़ी में चार अधिकारी थे। जब-जब और जहाँ-जहाँ वे चाहते, गाड़ी रुकने पर प्लेटफार्म पर उतर पड़ते और ऐसे चहलकदमी करते मानो वे किसी नवाब के नाती हों।

एक स्टेशन पर जतिन अपने साथ यात्रा कर रहे एक यात्री के लिए पानी लेने नीचे उतरा। वह यात्री बीमार था और जतिन उसे पहले से जानता भी नहीं था। प्लेटफार्म के नल से मग से पानी भरकर वह जल्दी में अपने डिब्बे की ओर लपका। जल्दबाज़ी में उसके मग से कुछ पानी छलक गया। पानी के छींटे एक अंग्रेज अफसर की पतलून पर पड़ गए। वह अफसर तत्काल मुड़ा और जतिन की पीठ पर उसने एक बेंत जमा दी।

जतिन ने पलभर को अपना कंधा देखा, किन्तु वह रुका नहीं। बीमार यात्री डिब्बे में पानी के लिए चिल्ला रहा था। उसे पानी पिलाकर जतिन जल्दी ही प्लेटफार्म पर फिर उतर आया और उस अधिकारी की कलाई को कसकर पकड़ लिया। अधिकारी के हाथ से छूटकर उसकी छड़ी गिर पड़ी और वह दर्द के मारे चिल्लाने लगा। यह देखकर उस गोरे के दूसरे साथियों ने मिलकर जतिन पर हमला कर दिया, लेकिन जतिन ने हरेक को कलामुंडी खिला दी।

चारों ओर हल्ला-गुल्ला मच गया। जतिन को पुलिस ने पकड़ लिया। जतिन ने पुलिस को धमकी दी कि यदि उसे और अधिक देर तक रोके रखा गया तो एक बहुत जरूरी सरकारी काम खतरे में पड़ जाएगा जिसे करने के लिए वह दार्जिलिंग जा रहा है।

लेकिन पुलिस ने उस पर हमला करने का केस बना दिया।

मुकद्‌मे की सुनवाई शुरू होते ही अंग्रेज न्यायाधीश ने उन अफसरों से पूछा जिन पर हमला किया गया था– "तो तुम चारों पिटे ?" "जी हजूर!"– उन्होंने उत्तर दिया। जज महोदय थोड़ी देर तो चुप रहे, लेकिन फिर पूछा– "तुम्हारा मतलब है, ब्रिटिश फौज के तुम चार हट्टे-कट्टे एक साथ मिलकर भी कुछ नहीं कर सके और एक स्थानीय आदमी से पिट गए।" "जी!"– वे बगलें झाँकते हुए बोले। जज महोदय धीरे-से बुदबुदाए– "समय बहुत खराब आ गया है। क्या तुम लोग नहीं समझते कि मैं अगर इस मुकदमे की कार्रवाई को आगे बढ़ाता हूँ तो इससे भारत में हम लोगों का मनोबल बुरी तरह टूटेगा और इससे तथाकथित राष्ट्रवादियों को शह मिलेगी।"

मामला जहाँ-का-तहाँ रफा-दफा कर दिया गया।

यह क्रान्तिकारी युग था। इस युग के जिन लोगों ने इस ज़माने में घटी जिन अनगिनत घटनाओं का वर्णन किया है या जिन घटनाओं को सच बताया है, उनसे हमें पता चलता है कि बाघा जतिन में अद्‌भुत साहस था

और वह बलिदान की भावना से ओतप्रोत रहता था। बाघ जतिन के चरित्र की प्रशंसा हम तभी कर सकते हैं जब हम उन उच्च भावनाओं को समझ सकें जिनसे उसका चरित्र ऐसा बन सका था। अपने लड़कपन में ही बाघ जतिन का संपर्क भगिनी निवेदिता से हो चुका था। कलकत्ता में उन दिनों महामारी फैली हुई थी। भगिनी निवेदिता रोगियों की सेवा के लिए सहायता कार्यों का संयोजन कर रही थीं। बाघ जतिन ने इस काम में उनका हाथ बँटाने के लिए जी-तोड़ मेहनत की थी। भगिनी निवेदिता इस होनहार युवक को एक बार विवेकानंद से मिलाने भी ले गई थीं। बाद में जतिन का श्री अरविंद से भी सीधा संपर्क बन गया था जो उन, दिनों भारतीय राष्ट्रवाद के मसीहा थे। ये श्री अरविंद ही थे जिन्होंने उस जमाने में भारतीय राष्ट्रवाद की एक धुँधली-सी हिलोर को भारतीय जन-सागर के शक्तिशाली ज्वारभाटे के रूप में बदल दिया था और नौजवानों को संदेश दिया था कि वे "भारत को धरती के एक टुकड़े के रूप में देखने की बजाय इसे अपनी जीती-जागती माता समझें।"

भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड कर्ज़न ने बंगाल को दो राज्यों में बाँटने का फैसला कर लिया था। बंगाल के लोग दिन-ब-दिन ब्रिटिश विरोधी होते जा रहे थे। लार्ड कर्ज़न चाहते थे कि बंगाल को दो राज्यों में बाँटकर बंगाल के लोगों की एकता को तोड दिया जाए। उन दिनों यदि यह बँटवारा हो गया होता तो सरकार अपनी इस नीति को भारत के दूसरे राज्यों का बँटवारा करने के लिए भी लागू कर देती। राष्ट्रवाद तो सभी जगह पनपता जा रहा था।

लेकिन इस बँटवारे के खिलाफ़ बँगाल के लोगों में बहुत नाराज़गी थी।

इन दिनों भारत के नौजवान एक ही आदर्श से प्रेरित थे और वह आदर्श था– अंग्रेजों की हकूमत से किस तरह छुटकारा मिले! इस उद्देश्य को पाने के लिए वे कुछ भी करने को, यहाँ तक कि मरने को भी तैयार थे। क्रान्तिकारी युवकों के कई संगठन भी बन चुके थे। जतिन को नौजवान अपने नेता के रूप में देखने लगे थे।

इन संगठनों की कारगुज़ारियों से भारत के विदेशी शासकों में हड़कंप मच गया। इन संगठनों के नेता की खोज में ब्रिटिश अधिकारियों ने कोई कोर-कसर न उठा रखी। व्यापक पूछताछ और जाँच-पड़तालों के बाद यह पता चला कि इन संगठनों का नेता और कोई नहीं, जतिन ही था। उसे तुरंत गिरफ़्तार कर लिया गया।

लगातार पन्द्रह महीने तक जतिन को जेल में रखा गया और उसे बड़ी क्रूर यातनाएँ दी जाती रहीं। लेकिन

इन यातनाओं को भुगतते हुए भी जतिन का मस्तक सदा गर्व से ऊँचा उठा रहता। जतिन को कैद करने वालों के लिए भी यह कड़ी परीक्षा का समय था। अपने कैदी के शांत और अविचल व्यक्तित्व के सामने वे स्वयं को ज़लील और तुच्छ समझने लगे थे।

अंत में उन्होने अपनी चालें बदल दीं। अब वे जतिन से बड़ा आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करने लगे। एक दिन एक मृदुभाषी अंग्रेज अफसर ने जतिन के सामने "एक मोटी रकम, एक सुंदर बंगला, अच्छी-से-अच्छी शराब और एक सुंदर स्त्री" देने का प्रस्ताव रखा।

"बकवास बंद करो!" -जतिन चीख पड़ा। जतिन ने उस अंग्रेज अफसर को कसकर एक मुक्का मारा। वह अफसर बड़ा भाग्यवान था कि मुक्का उसके सिर पर न पड़कर मेज पर पड़ा। मेज टूट गई।

: 2 :

जतिन पर आरोप लगानेवाले अफसर उसके खिलाफ़ कोई मामला सिद्ध नहीं कर सके। हालाँकि अपनी इस असफलता से शासकअफसरों को बड़ी निराशा और पीड़ा हुई, फिर भी जतिन सन् 1911 ई. के फ़रवरी महीने में रिहा कर दिया गया।

जतिन की सरकारी नौकरी खत्म कर दी गई। अपनी गुप्त क्रांतिकारी गतिविधियों पर परदा डाले रखने के लिए जतिन ने एक व्यापारिक फर्म खोल दी और निर्माण-कार्य के अनेक ठेके ले लिए। अपने व्यापार के सिलसिले में जतिन एक जगह से दूसरी जगह आया-जाया करता था। पुलिस को भी यह सोचकर राहत की साँस मिली कि अब उन्हें बाघ की ओर से कोई ख़तरा नहीं रहा। पुलिस ने यह भी महसूस किया कि अपनी पत्नी और दो बच्चों के लालन-पालन की ज़िम्मेदारी के कारण जतिन अब "दुनियादारी" में पड़ गया है। लेकिन असलियत यह थी कि जतिन उन लोगो से लगातार संपर्क बनाए रखता था जो भारतीय परिस्थितियों में अमूलचूल परिवर्तन चाहते थे। वे अनुशासित और शारीरिक दृष्टि से मज़बूत रहें, जतिन इसकी उन्हें ट्रेनिंग दिया करता था।

जतिन ने आज़ादी की लड़ाई दो तरह से छेड़ रखी थी। उसकी इच्छा थी कि भारतीयों के मन में भारत के प्रति इतना उत्कट प्रेम पैदा कर दिया जाए कि उन्हें विदेशी शासन का जुआ और अधिक बर्दाश्त न हो। वह

एक सहानुभूति-संपन्न फौज की सहायता से ऐसी जन-जागृति पैदा करना चाहता था कि जब क्रांति हो तो सफलतापूर्वक हो सके।

दूसरे, जो शक्तियाँ अंग्रेजों के खिलाफ थीं और जिन्हें भारत से सहानुभूति थी, उनका आह्वान किया जाना चाहिए कि वे इस भारतीय क्रांति में हाथ बँटाने के लिए आगे आएँ।

जतिन ने 1906 ई० में ही विदेशी सरकारों से और विदेशों में रह रहे भारतीयों से संपर्क जोड़ना शुरू कर दिया था। स्थायी संपर्क बनाए रखने के काम में सबसे बड़ी बाधा आ रही थी धन की। धन की कमी की कठिनाई को दूर करने में जतिन की जिस आदमी ने सहायता की उसका नाम था इंदुभूषण मित्रा। मित्रा एक सामंती रियासत में क्लर्क था। वह रियासत के एक लाख ग्यारह हज़ार रुपए जतिन को पकड़ा कर फरार हो गया। उसे शीघ्र ही पकड़कर कैद कर लिया गया और उसे कई तरह की यातनाएँ दी गईं, लेकिन उसने अपना भेद बिल्कुल नहीं खोला।

क्रांतिकारी दल में एक नौजवान था– एस.सेन। एक भेदिए दूत के रूप में उसे तत्काल जर्मनी भेज दिया गया। उसके सिर पर कई नाजुक परिस्थितियाँ मंडरा रही थीं। इन परिस्थितियों की रहस्यपूर्ण जानकारियाँ उसने एकत्रित कीं और वह प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने से पहले ही भारत लौट आया। इन रहस्यपूर्ण जानकारियों के आधार पर यहाँ के क्रांतिकारियों को अपने भावी कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करने में बड़ी मदद मिली।

अपने उद्देश्यों और अपनी कोशिशों को पूरा करने के लिए जतिन कलकत्ता स्थित जर्मन-कौंसल-जनरल से कई बार मिला और उनसे आवश्यक सहायता-सहयोग लिया। कौंसल-जनरल ने जर्मन सरकार की नीति के अनुसार उसे प्रोत्साहित भी किया। अमरीका, होनोलूलू, बताविया, मनीला आदि देशों में स्थित जर्मन मिशनों को सलाह दी गई कि वे भारतीय क्रांतिकारियों की हर तरह से मदद करें।

इन्हीं दिनों सैन फ्रांसिस्को में लाला हरदयाल ने "गदर" नाम की एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। हरदयाल जी के काम में उनकी सहायता करने के लिए जतिन ने तारकदास नाम के एक आदमी को अमरीका भेज दिया। बरकत उल्ला टोकियो विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। उन्होंने "गदर" के प्रचार अधिकारी के रूप में काम करने के लिए अपनी नौकरी छोड़ दी। एक वरिष्ठ क्रांतिकारी के.सी घोष ने उन दिनों की याद करते हुए लिखा है– "ये भारत के लिए गर्व और शान के दिन थे। भारत से बाहर जो लोग भारत की स्वतंत्रता के लिए काम कर रहे थे उनके हृदय में जाति, नस्ल, क्षेत्रीयता की भावना अथवा किसी

विशेष पार्टी के प्रति लगाव जैसी कोई भावना नहीं थी। हर आदमी अपनी अस्मिता की पहचान और अपनी रुचियों को ताक पर रखकर एक महान सामूहिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जुटा हुआ था। सभी लोग पूरे आत्मविश्वास के साथ एक राष्ट्रवाद की भावना से ओतप्रोत होकर काम कर रहे थे।"

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सहायता पहुँचाने के लिए भारत से बाहर के देशों में जितनी भी संस्थाएँ काम कर रही थीं उन सबकी सूचनाएँ यहाँ के क्रांतिकारियों तक पहुँचती रहती थीं। यहाँ के क्रांतिकारियों ने कलकत्ता में आयात-निर्यात की एक "हैरी एंड कंपनी" नामक फर्म खोल ली जिसकी आड़ मे ये लोग विदेशों से धन, सूचनाएँ और हथियार प्राप्त किया करते थे।

जतिन के मित्र भारत के अलग-अलग हिस्सों में फैल गए। योजना बनाई गई कि बड़े पैमाने पर विद्रोह कर दिया जाए। हालाँकि ये काम बड़े गुप्त तरीके से किए जा रहे थे, लेकिन इनमें से कुछ की भनक पुलिस के कानों में भी पड़ गई। इस विद्रोह-कार्यक्रम का सरगना जतिन ही था – यह सिद्ध करने के लिए पुलिस ने काफी सबूत इकट्ठे कर लिए थे। पुलिस ने एक बार फिर जतिन को गिरफ़्तार करने का फैसला कर लिया, लेकिन उन्हें जतिन का कहीं कोई पता ठिकाना नहीं मिला।

पुलिस जतिन को खोजने में लग गई। बहुत से इश्तहार प्रकाशित करवाए गए और घोषणा की गई कि जो कोई भी जतिन की गिरफ्तारी के बारे में किसी भी तरह की सूचना देगा, उसे आकर्षक पुरस्कार दिया जाएगा। जतिन के साथियो ने उसे सूचित कर दिया कि वह अपनी सुरक्षा के बारे मे अब अधिक सतर्क रहे। सभी की यह राय बनी कि जतिन जितनी जल्दी कलकत्ता छोड़ सके, उतना ही अच्छा रहेगा।

जतिन ने अपनी सुरक्षा के लिए तो नहीं, लेकिन कलकत्ता छोड़ दिया। हथियारों और गोला-बारूद से लदे कुछ विदेशी जहाज़ भारतीय तट पर पहुँचने वाले थे। सामान उतारने के लिए उड़ीसा के बालासोर तट को अधिक उपयुक्त समझा गया। बुध बालंगा नदी के मुहाने पर जहाज़ गुप्त रूप से अपना सामान उतार सकता था तथा हथियारों और गोला-बारूद को निकटवर्ती पहाड़ों और जंगलों में सुरक्षापूर्वक इकट्ठा किया जा सकता था।

: 3 :

उड़ीसा के बालासोर शहर से पैंतालीस किलोमीटर पश्चिम में काप्तीपाद के निकट गोपालडीह नामक स्थान पर एक छोटे-से सामंती राज्य का मुख्यालय था। जतिन यहाँ चला आया। 1915 ई. में यहाँ एक

छोटा-सा बाज़ार था। जतिन अपने दो प्रमुख साथियों के साथ यहाँ रहने लगा। इनके नाम थे– चित्तप्रिय और मनोरंजन। इनके नीरेन और ज्योतिष नाम के दो और साथी भी थे जिन्होंने यहाँ से दस किलोमीटर दूर डेरा डाल रखा था।

यहाँ मानेन्द्र चक्रवर्ती नाम के एक सज्जन रहते थे जिन्हें इन लोगों से बड़ी सहानुभूति थी। उन्होंने इस इलाके की कुछ वन-भूमि लीज़ पर ले रखी थी। उन्होंने इन लोगों के लिए एक दुकान खोल दी ताकि ये लोग बिना किसी शक के अपनी गतिविधियाँ जारी रख सकें। ''यूनीवर्सल एम्पोरियम'' नामक साइकिलों की एक एजेंसी के जरिए ये लोग कलकत्ता के क्रांतिकारियों से अपना निरंतर संपर्क बनाए रखते थे।

जतिन और उसके साथियों ने अपने नाम बदल लिए थे। स्थानीय लोग जतिन को ''साधु बाबा'' कहकर पुकारने लगे थे। जरूरतमंद लोगों को खुलकर दान देने से और उनकी अनेक प्रकार से सहायता करने के कारण जतिन यहाँ के लोगों में बहुत लोकप्रिय हो चला था।

''मैवरिक'' नाम का एक जहाज जो पूरे-का-पूरा हथियारों से लदा हुआ था, अप्रैल में सैन-फ्रांसिस्को से रवाना हुआ।

किन्तु भाग्य ''मैवरिक'' के अभियान के विपरीत पड़ा। जासूसों को इस अभियान के बारे में पता चल गया और ब्रिटिश सरकार की किश्तियाँ इसके पीछे लग गईं। जब जहाज़ के कप्तान को यह निश्चय हो गया कि अब आमने-सामने के संघर्ष को अधिक समय तक टाल पाना संभव नहीं रह गया है तो उसने सारे कागज़ात, हथियार और गोले-बारूद को प्रशांत महासागर में फिकवा दिया और इस तरह जहाज खाली हो गया। अंत में जहाज़ को एक इंडोनेशियाई बंदरगाह पर रोक लिया गया।

यह समाचार जतिन तक भी पहुँच गया। उसने किसी तरह की निराशा प्रकट नहीं होने दी और कहा– ''हमारे लिए यह एक ईश्वरीय संकेत है। हमें अपने देश की स्वतंत्रता अपने ही प्रयासों से प्राप्त करनी होगी, बाहरी मदद से नहीं।''

इसका यह अर्थ नहीं कि जतिन ने अपने सभी बाहरी संपर्कों को छोड़ दिया हो। उसने अपने दो प्रमुख साथियों को फिर से **बताविया** दौड़ाया और जर्मन सरकार को हथियारों और गोले-बारूद सहित दो और जहाज़ भेजने के लिए प्रेरित किया।

इतने में जतिन की बहुत सरगर्मी से तलाश शुरू हो गई। एक मामले की जाँच-पड़ताल करते हुए पुलिस

को कलकत्ता की "हैरी एंड कंपनी" तथा बालासोर के "यूनीवर्सल एम्पोरियम" के बीच एक निश्चित संपर्क-सूत्र का पता चला। (हालाँकि "हैरी एंड कंपनी" के सत्य-आचरण पर उन्हें कोई संदेह नहीं था।)

4 सिंतबर 1915 ई. को भारत सरकार के सतर्कता विभाग के डी.आई.जी.जी.डी. डैनहम, पुलिस उपायुक्त चार्ल्स टेगार्ट (जिन्हें बाद में "सर" की उपाधि दी गई) तथा पुलिस अधीक्षक एल.एन. बर्ड बालासोर पहुँच गए। उन्होंने "यूनीवर्सल एम्पोरियम" की बारीकी से खोजबीन की। उस जाँच-पड़ताल में विशेष महत्व की कोई जानकारी उनके हाथ नहीं लगी और हतोत्साहित होकर वे रवाना होने वाले ही थे कि उनकी निगाह कागज़ के एक टुकड़े पर पड़ी जिस पर घसीट में "काप्तीपाद" लिखा हुआ था। हालाँकि एम्पोरियम में जिस प्रकार का व्यापार होता था उसे देखते हुए काप्तीपाद नाम के स्थान की कोई प्रासंगिकता उन्हें नज़र नहीं आई, फिर भी उन्होंने इस स्रोत की भी जाँच-पड़ताल कर लेने का निर्णय कर लिया।

बालासोर, नीलगिरि और मयूरभंज की पुलिस डिवीज़नों को चौकस रहने के लिए कहकर वे अफ़सर काप्तीपाद के लिए रवाना हो गए। 6 सिंतबर को जतिन ने स्वयं उन्हें देखा। घनघोर बारिश हो रही थी। इन लोगों के आगमन का उद्देश्य भाँपने में जतिन को बिल्कुल देर नहीं लगी।

एक जंगली क्षेत्र में जतिन की एकांत कुटिया बनी हुई थी। इन अफसरों ने दूसरे दिन स्थानीय एस.डी.ओ. और उसके दल को साथ लेकर सवेरे-सवेरे जतिन की कुटिया को घेर लिया। दरवाज़ा भीतर से बंद था। अब दरवाजे को तोड़कर कौन खोले ? खतरे की पूरी-पूरी संभावनाएँ थीं, इसलिए साहब लोगों ने इस काम पर एक भारतीय अधिकारी को लगा दिया।

उसने तोड़कर दरवाजा खोल दिया। कुछ पुस्तकें, दवाइयों का एक डिब्बा और थोड़ा-सा गन-पाउडर छोड़कर उन्हें भीतर कुछ भी नहीं मिला। कुटिया के पिछले हिस्से में उन्हें एक संकेत पट्ट मिला जिस पर गोलियाँ चला-चलाकर निशाना साधने का काफी अभ्यास किया गया था।

साहब लोग हताश हो गए। उन्होने मानेन्द्र चक्रवर्ती का घर खोज लिया और उससे सवालो पर सवाल पूछने लगे। मानेन्द्र ने केवल यही उत्तर दिया कि "बाबू लोग" शिकार के लिए बाहर गए हुए हैं।

तभी पुलिस उपायुक्त ने सिपाहियों और चौकीदारों को आदेश दिया कि वे चारों ओर भागदौड़ करें और गाँववालों को बताएँ कि कुख्यात डाकुओं का एक दल कैद से छूटकर भाग निकला है। इन डाकुओं की गिरफ्तारी में सहायक हो सकनेवाली किसी भी प्रकार की सूचना देनेवाले को दस हज़ार रुपए का इनाम देने की घोषणा भी कर दी गई।

''दस हज़ार रुपए'' के इनाम की घोषणा लोगों तक पहुँचाते-पहुँचाते बढ़कर ''दस लाख'' की हो गई। काप्तीपाद के जंगलों को छान डाला गया लेकिन साहबों की सब कोशिशें बेकार रहीं। हथियार-बंद पुलिस के साथ-साथ डैनहम तो काप्तीपाद की चौकसी करते रहे, उनके दूसरे साथी बालासोर लौट आए ताकि वे अपनी मायूस खोजें जारी रखने के लिए पर्याप्त शक्ति जुटा सकें।

अधिकारी लोग निरन्तर खोजबीन करते रहे। पहरेदार लोग जतिन की कुटिया पर और चक्रवर्ती के घर पर लगातार अपनी निगाह बनाए रखते थे। इतना होने पर भी जतिन आधी रात के समय चक्रवर्ती को धन्यवाद देने के लिए और उससे अलविदा कहने के लिए उसके घर आ पहुँचा।

वे सारी रात पैदल चलते रहे। 8 सितंबर को सवेरे तक पुलिस काप्तीपाद से बालासोर तक अपना जाल बिछा चुकी थी।

इसलिए चित्तप्रिय और मनोरंजन ने अश्रुपूरित नेत्रों से अपने प्रिय नेता जतिन से प्रार्थना की कि हमें हमारे भाग्य के भरोसे छोड़ दीजिए और अपनी स्वयं की हिफ़ाजत कीजिए। इन लोगों को इस बात में कोई संदेह नहीं था कि अकेले होने पर जतिन सरलता से बचकर निकल सकता है। उन्होंने कहा– ''दादा, यदि आप जिंदा बच रहेंगे तो हम हर काम फिर से संगठित कर सकेंगे।

लेकिन जतिन हर बार एक दयालु बड़े भाई की तरह केवल मुस्कराकर रह जाता। अपने दल के शेष दो साथियों को अगले कैंप से लेने-के लिए ये लोग आगे बढ़े चले जा रहे थे। फिर पाँचों साथी आगे बढ़ने लगे।

जो लोग उनका पीछा कर रहे थे उन लोगो ने बाद में स्वीकार किया कि जतिन और उसके साथियों ने रास्ते में पड़ने वाली अनेक पुलिस-चौकियों को कितनी होशियारी से पार किया, यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात थी। ये लोग अन्ततः मौत के घेरे को भी तोड़ डालते यदि ग्रामीण भाइयों में उनके डाकू होने का सनसनीपूर्ण समाचार पहले से न फैला दिया गया होता।

बालासोर में ऐसे लोग भी थे जो किसी भी खतरे की कीमत पर इन लोगों को शरण दे सकते थे अथवा इनके भाग निकलने में पूरी सहायता कर सकते थे। किन्तु इन शरणार्थियों की हकीकत को जानने-समझने का उन्हें कोई अवसर ही नहीं मिल पाया।

जल्दी ही वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गई, लेकिन भीड़ किंकर्तव्यविमूढ़ थी। अब तक इस समूह की संदेहास्पद

गतिविधियों की सूचना पुलिस स्टेशन तक भी पहुँच चुकी थी।

पुलिस का एक सब-इंसपैक्टर भी वहाँ आ पहुँचा और उसने जतिन की कलाई पकड़ ली लेकिन जतिन ने उसे भीड़ में पीछे की ओर धकेल दिया।

इन लोगों के सामने फिर से नदी आ पड़ी। वहाँ कोई नाव नहीं थी। बहुत कठिनाइयों का सामना करते हुए इन लोगों ने अपने हथियारों और गोले-बारूद की पोटलियों को पानी से ऊपर उठाए-उठाए नदी पार की।

एक गाँव था–चासखंड। इस गाँव की बाहरी सीमा पर चारों ओर मिट्टी के टीले, घनी झाड़ियाँ एवं छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं। इन लोगों ने फैसला किया कि अंतिम परीक्षा के लिए वे वहीं इंतजार करेंगे।

जतिन के साथियों ने फिर उसे एक अवसर दिया कि वह अकेला भागकर निकल जाए और पुलिस उन्हीं से उलझती रहे। इन लोगों से नेता जतिन ने उनके इस सुझाव के प्रति धन्यवाद दिया लेकिन वह टस से मस नहीं हुआ।

बालासोर की तलहटी में युद्ध की ज़ोरदार तैयारियाॅ हो रही थीं। बचकर भाग निकलनेवाले इन लोगों की ख़बर सबसे पहले पुलिस अधीक्षक को मिली। वह भागा-भागा किल्बी नाम के एक जिला मजिस्ट्रेट के पास पहुॅचा जो कि अभी-अभी काप्तीपाद से लौटकर आया था। फौजी-पड़ाव के प्रूफ डिपार्टमेंट के सार्जेंट रुदरफोर्ड के पास ये दोनों लोग भागे-भागे पहुँचे। हथियार बंद पुलिस और सेना तीन समूहों में बॅट गई और उसने चासखंड की ओर मार्च कर दिया।

दोपहर के अंत तक वे लोग एक गाॅव तक ही पहुँच पाए होंगे कि एक जासूस ने पहाड़ी की तरफ इशारा कर दिया। किल्बी की पार्टी उधर की ओर चल दी। बहुत सारे लोग सुरक्षित दूरी पर खड़े-खड़े इस ''आपरेशन'' को देख रहे थे। न्यायाधीश टी.सी. मैकफरसन के सामने किल्बी ने अपने बयान में कहा कि बागियों को चेतावनी देने के लिए उसने पहले-पहल गोली चलाई। दरअसल किल्बी का अनुमान था कि भूख, नींद और थकान से हारे-थके ये लोग बिना किसी विरोध के आत्म-समर्पण कर देंगे। बागी सिर्फ पाँच थे। यदि बागी पचास भी होते तो भी उन्हे महसूस हो गया होता कि यह युद्ध बराबरी का युद्ध नहीं होने जा रहा।

बागियों ने आत्म-समर्पण करने का कोई संकेत नहीं दिया। किल्बी किंकर्तव्यविमूढ़ रह गया। जैसे ही **रुदरफोर्ड** अपने सिपाहियों के साथ वहाँ पहुँचा, किल्बी ने उससे उसकी राय पूछी। **रुदरफोर्ड** ने गोलियाँ

बरसाते हुए आगे बढ़ने का सुझाव दिया।

उन्होंने वैसा ही किया। अपनी पहली गोलियों का तो उन्हें जवाब नहीं मिला। अतः पुलिस के लोग अपनी कुहनियों के बल झाड़-झंखाड़ों से होते हुए घिसट-घिसटकर आगे बढ़ने लगे।

किल्बी और रुदरफोर्ड की धारणा थी कि जतिन और उसके साथियों के पास केवल पिस्तौलें होंगी, क्योंकि ये लोग नदी के इस पास से बंदूकें तो अपने साथ ले नहीं जा सके होंगे। उनकी यह धारणा तब तो और भी पक्की हो गई जब उनकी गोलियों का दूसरी ओर से कोई जबाव ही नहीं मिला।

अब सिपाहियों को पहाड़ी पर चढ़ने का आदेश हुआ। पहाड़ी की चोटी पर जतिन और उसके साथी हमला करने की ताक में पहाड़ी की ही तरह निश्चल लेटे हुए थे।

जतिन और उसके साथियों की रण-नीति को समझने में किल्बी और रुदरफोर्ड को बहुत देर लग गई।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते जैसे ही सिपाही इन लोगों की मार-सीमा में पहुँचे, इन लोगों ने उन पर गोलीबारी शुरू कर दी। आगे बढ़ते जा रहे इस दल की अग्रिम पंक्ति के सिपाही धड़ाम-धड़ाम लुढकते-पुढ़कते नीचे गिरने लगे। इससे पहले कि ये लोग दुबारा सिपाहियों पर गोलियाँ बरसाना शुरू कर दें, सिपाहियो को जल्दी ही ऊपर चढ़ जाने का आदेश दे दिया गया। किंतु जतिन ने उन्हें तनिक भी मोहलत नहीं लेने दी। शत्रुओं का नाश करने के लिए पहाड़ के ऊपर से बादलों की गडगड़ाहट और बिजली की चमक के समान गोलियों की वर्षा होती रही और सिपाहियों को एक बार फिर हताश होकर लौटना पड़ा।

अधिकारियों को आशा थी कि उन्हें आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास किया जाएगा, किंतु उनका यह अनुमान ठीक नहीं निकला। पलभर को तो वे ठगे-से रह गए, किंतु निराशा की स्थिति में उन्होंने तत्काल ही एक फैसला कर लिया। यदि इस बार फिर से उन्हें आगे बढ़ने से रोका गया तो जतिन और उसके साथियों को जो हानि पहुँचेगी या उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, उसे वे लोग शायद ही बर्दाश्त कर सकेंगे। अधिकारियों ने इस बात पर ध्यान दिए बगैर कि उनके कितने आदमी मारे जाएँगे, इसी बात में अपनी सफलता समझी कि बागियों का गोला-बारूद शीघ्र ही समाप्त करा दिया जाए।

अधिकारियों ने अपने सिपाहियों को पहाड़ी पर चढ़ जाने का आदेश दे दिया। इन सिपाहियों ने अपनी पूरी ताकत से धुआँधार गोलियाँ बरसाना शुरू कर दिया। इस पहाड़ी पर उनके सैनिकों की निगाह बनी रहे, इस उद्देश्य से उन्होंने नज़दीक से पेड़ों पर कुछ सिपाहियों को राइफलों सहित चढ़ा दिया।
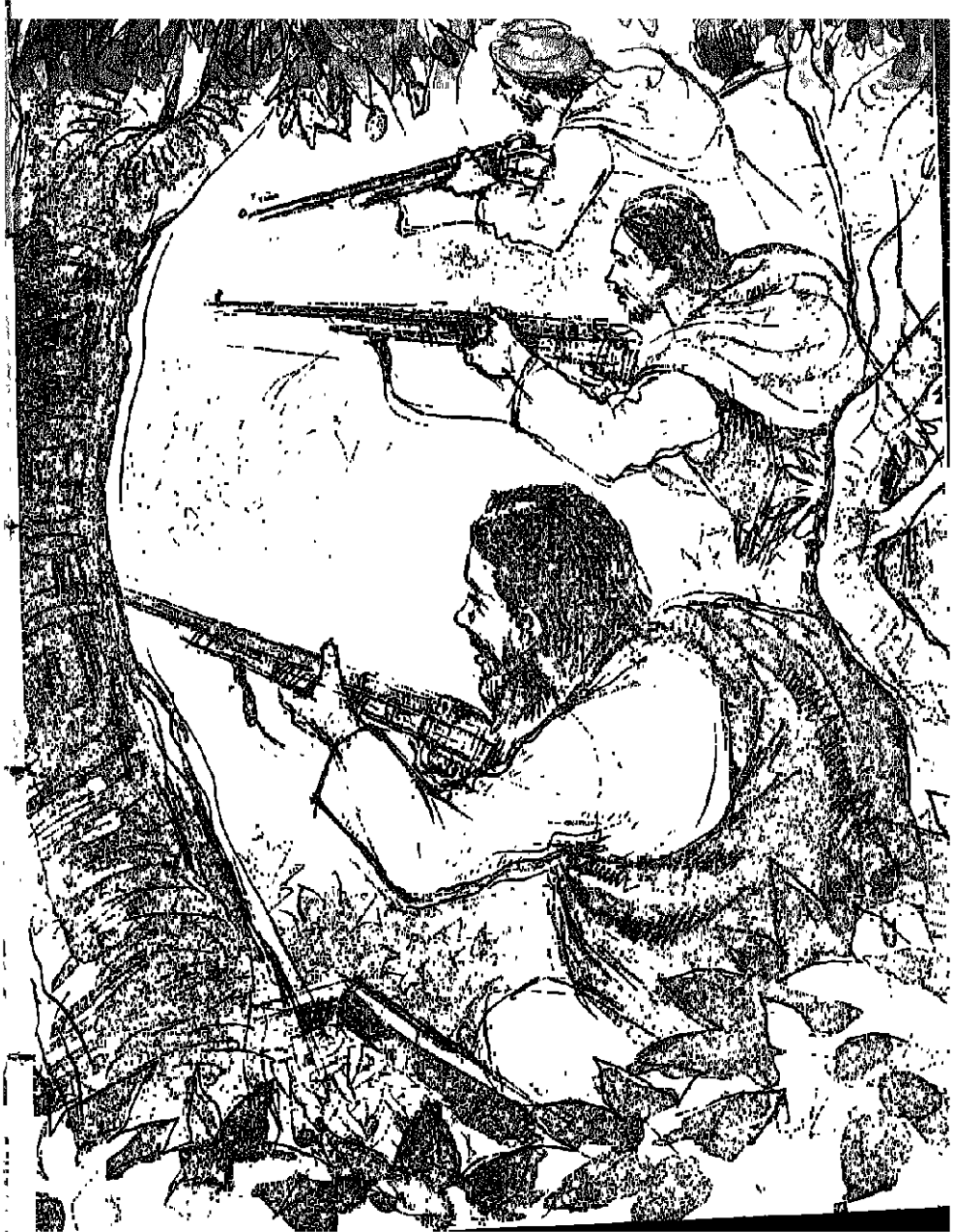
न घंटे तक आमने-सामने का युद्ध चलता रहा। यह युद्ध कुछ देर और भी चालू रखा जा सकता था, किंतु ागी लोगों के हाथ में जितना गोला-बारूद था वह समाप्त हो चुका था। बागी लोग गोले-बारूद से भरा पना दूसरा नया थैला खोलने ही जा रहे थे कि उन्हें पता चला कि उनके थैले की चाबी कहीं खो गई है। ले का चमड़ा इतना मोटा था कि उसे फाड़ पाना संभव नहीं हो सका। बागी लोग थैले से जूझ ही रहे थे 5 एक सिपाही ने पास के पेड़ से चित्तप्रिय पर गोली दाग दी। लहूलुहान चित्तप्रिय की मृत्यु हो गई।

तिन का भी एक हाथ बेकार हो गया था और उसकी छाती से खून बहे जा रहा था। जतिन ने चित्तप्रिय को पनी ओर खींचकर उसका सिर अपनी गोद मे रख लिया और गोली चलाना जारी रखा।

ीघ्र ही बागियों का गोला-बारूद समाप्त हो गया। जतिन बहुत बुरी तरह घायल हो गया था। पहाड़ी की टी पर सन्नाटा छा गया। जब अधिकारियों को यकीन हो गया कि यह सन्नाटा गोला-बारूद खत्म हो ाने के कारण ही है तो वे पहाड़ी पर चढ़ गए।

तिन प्यासा था। किल्बी ने शीघ्र ही अपने हैलमेट में पानी भरा और मरणासन्न को सादर भेंट किया। तिन ने सधन्यवाद जल ग्रहण किया।

ाम का समय था। युद्ध में हताहत लोगों को शहर के अस्तपताल में ले जाया गया। पानी बरस रहा था। कल्बी ने जतिन को अपना कोट उढ़ा रखा था। सारे रास्ते जतिन को होश बना रहा।

कल्बी ने पूछा–"मि. मुखर्जी, क्या आप कुछ कह रहे हैं?" "हाँ", जतिन ने उत्तर दिया। "कृपया इस बात ा ध्यान रखिए कि मेरे साथियों के साथ किसी प्रकार का कोई अन्याय न हो। जो कुछ हुआ है उसके लिए केवल मैं ही जिम्मेदार हूँ।"

तिन ने एक बार फिर अपना अनुरोध दोहराया। जतिन का आप्रेशन किया जाना था। उसके पेट में कुछ गोलियाँ धँस गई थीं। आपरेशन सफल हुआ। उस रात जतिन की देखभाल में व्यस्त रहने के बाद किल्बी और दूसरे अधिकारियों को चैन की साँस मिली।

0 सितंबर 1915 ई. को सवेरे पता चला कि जतिन के टाँके ढीले पड़ते जा रहे हैं। जतिन की साँस टूटती ा रही थी।

ार्ल्स टैगार्ट ने जो कि बालासोर चले गए थे, संकोचभरी आवाज़ में पूछा– "मुझे बताओ, मुखर्जी, क्या
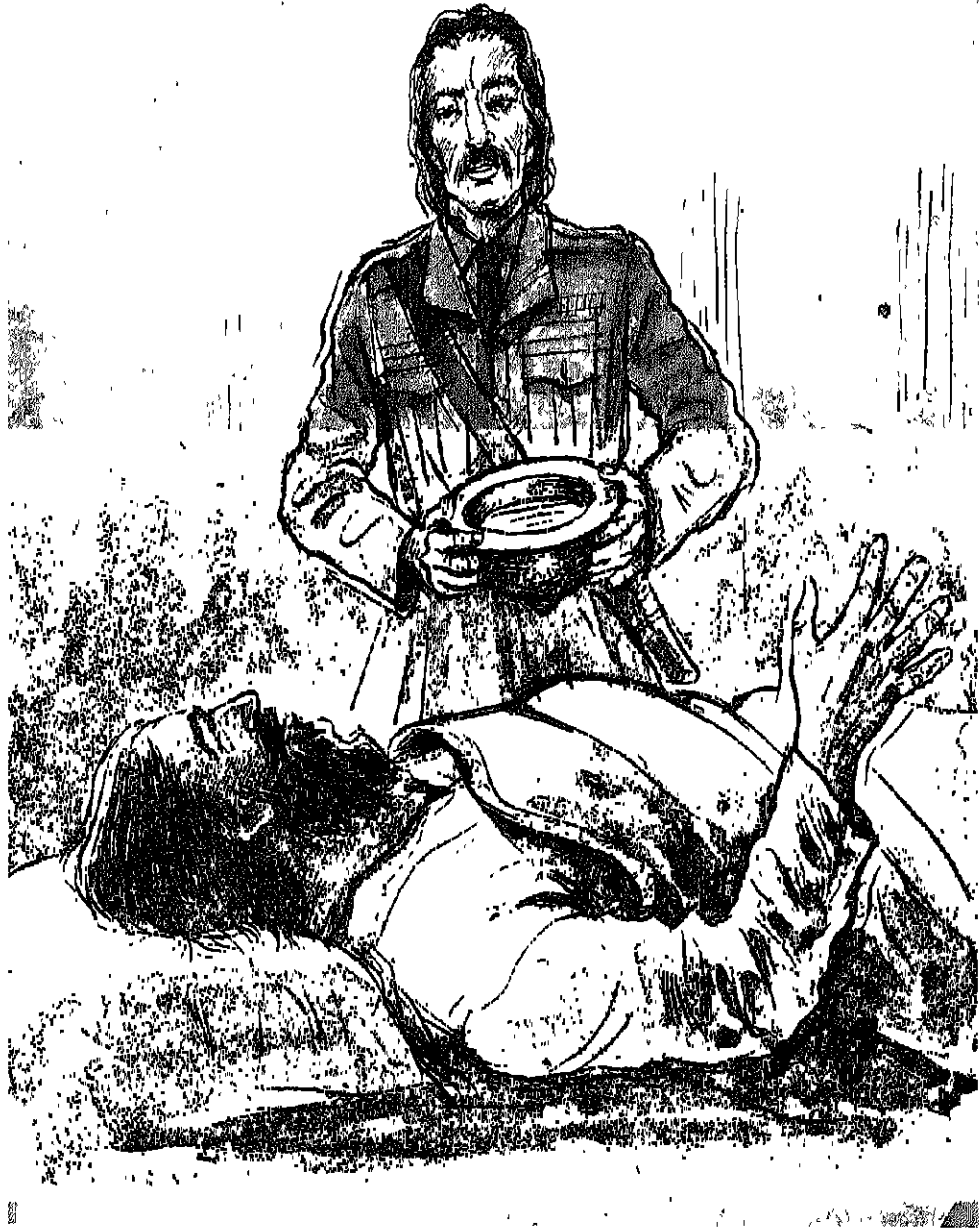
मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूँ?"

जतिन मुस्कराया और बोला– "कुछ नहीं, धन्यवाद। सब कुछ खत्म होता जा रहा है। अलविदा।"

बाद में चार्ल्स टैगार्ट ने कहा– "मैं एक सबसे अधिक बहादुर भारतीय से मिला, किंतु मुझे अपना कर्तव्य भी तो पूरा करना था।"

कुछ समय बाद नीरेन और मनोरंजन को फाँसी दे दी गई। "ब्रिटिश राज हटाओ"– यही इन लोगों का आखिरी कहना था।

ज्योतिष को अंडमान भेज दिया गया। बाद में बहरामपुर जेल में उसकी मृत्यु हो गई। जतिन के लिए अपनी श्रृद्धांजलि के रूप में उसने जेल की दीवार पर उकेर-उकेरकर कुछ लिखा भी था। यही उसका अंतिम कार्य था।

बाघा जतिन अमर हो गया। कुछ साल बाद 9 सितंबर 1923 के दिन बाघा की स्मृति में भगतसिंह ने पंजाब में शहीद-दिवस मनाया।

अपने एक गीत में नज़रूल इस्लाम ने बालासोर के इस युद्ध को "नए भारत की हल्दीघाटी" कहा।

चासखंड जानेवाली जिस सड़क पर पुलिस ने जतिन का पीछा किया था, आज उस सड़क का नाम "बाघा जतिन रोड" है। यह सड़क देश का पवित्रतम स्थान है।